बहाने
बाज़ी
भदन्त आनन्द कौसल्यायन
नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद

बहानेबाज़ी

लेखक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
१९५५

प्रकाशक :
नीलाभ प्रकाशन गृह,
५, खुसरोबाग़ रोड
इलाहाबाद-१

मूल्य ३।)

मुद्रक :
नया हिन्द प्रेस,
१४५, मुट्ठीगंज
इलाहाबाद-३

प्रकाशकीय

परिचय अपरिचित का दिया जाता है, भदन्त आनन्द-कौसल्यायन को इसकी आवश्यकता नहीं। कोई उन्हें कर्मठ हिन्दी सेवक के रूप में जानता है, कोई बौद्ध भिक्षु के रूप में, कोई अथक पर्यटक के रूप में, कोई लेखक के रूप में, कोई वक्ता के रूप में। जो इतने क्षेत्रों में ख्यात हो, उसे शाब्दिक परिचय में बाँधना बहुत उचित नहीं।

उचित अनुचित के बीच एक स्थिति 'ज़रूरत' की होती है। इसीलिए परिचय भी दिया जा रहा है और इस परिचय के माध्यम से एक ज़रूरत भी पूरी की जा रही है। यह ज़रूरत है—हिंन्दी निबन्ध साहित्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की। हिन्दी निबन्धों का क्षेत्र अभी तक पर्याप्त सेवित नहीं है। भारतेन्दु काल के बाद तो धीरे-धीरे इनका लोप होता गया और निबन्ध-कला उपेक्षित हो गयी। इसका कारण

था—लेखकों के अनुभव विस्तार की कमी और छोटी-छोटी बातों को भी अपनी कलात्मकता से निखार सकने की अक्षमता।

परन्तु ये सिद्धियाँ कौसल्यायन जी को सहज ही प्राप्त हैं—उनके देश-विदेश के अनुभवों की व्यापकता, उनकी अन्तर्दृष्टि और निर्भीकता ही उनकी निधि है। शैलीकार के रूप में जो अद्वितीय सफलता उन्हें मिली है, वह विरलों के पास है।

इस संग्रह में उनके नवीनतम निबन्ध संकलित हैं और एकआध प्रतिनिधि पुराने निबन्ध भी। इस प्रकार यह स्वाभाविक रूप से उनके प्रतिनिधि निबन्धों का संग्रह हो जाता है और हिन्दी साहित्य में निबन्धों की कमी को निश्चय ही बड़ी हद तक पूरा करता है, साथ ही निबन्ध रचना की कला को आगे बढ़ाता है।

इन निबन्धों की सादगी, कहानियों की तरह की मनोरंजकता और सबसे ऊपर छोटी-छोटी बातों से भी जीवन को स्वस्थ और जागरूक बना सकने की क्षमता और आस-पास छिपे सत्य को पा सकने की उपादेयता ने इनका महत्व और भी बढ़ा दिया है।

हम जो सोचते हैं, जो कहना चाहते हैं पर कह नहीं पाते—वही सब निर्भीकता से इनमें कह दिया गया है।

शब्द-रचना, मनोरंजन के साथ-साथ शक्ति भी देती है—इस बात का प्रमाण पाठक स्वयं पायेंगे—इसी विश्वास के साथ पाठकों के सामने यह पुस्तक प्रस्तुत है।

प्रकाशक

क्रम

बहानेबाज़ी

ये सुइयाँ

★

ज्योंही मैंने इन छोटी-बड़ी सुइयों (इन्जैक्शनों) की चर्चा करने के लिए क़लम हाथ में ली है त्योंही न जाने क्यों बचपन में सुने गीत की एक पंक्ति याद आ गयी—

'छोटी बड़ी सुइयाँ रे, जाली का मोरा कातना' मैंने कातना ही सुना है! और जब मैं इस गीत के अर्थ पर विचार करता हूँ तो एकदम निरर्थक लगता है। सुइयाँ सीने के काम आती हैं या उनसे जाली बुनी जाती है ? तो इन सुइयों और जाली कातने का क्या मेल ? एकदम बेमेल ! अब भी यह याद है कि एक समय यह गीत शोहदास्वभाव तरुणों की ज़बान पर चढ़ा हुआ था। ऐसा लगता है कि किसी भी चीज़ के प्रचारित होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उपयोगी हो, सार्थक हो। निरर्थक और निश्चयात्मक रूप से हानिकर चीज़ें भी प्रोपेगेण्डा और विज्ञापन के पंख लगाकर कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचती हैं !

हाँ, तो मैं गीत की उन छोटी-मोटी सुइयों की बात नहीं, इन वास्तविक छोटी-मोटी सुइयों की बात कहने जा रहा हूँ, जो किसी ग़रीब अथवा अमीर का कपड़ा नहीं सीतीं, किन्तु ग़रीब-अमीर सभी के बदन को बींधती हैं।

इन सुइयों के बारे में मेरा क्या मत है अथवा हो सकता है, उसे जानने-

समझने के लिए आपको चन्द पंक्तियाँ पढ़ने का कष्ट करना ही होगा—

सन् १९३७ में मैं चटगाँव में था। सोचा था कि वर्षावास अथवा चातुर्मास के तीन-चार महीने वहीं व्यतीत करूँगा। चटगाँव में प्रवेश करते ही मुझे मलेरिया ने पकड़ लिया। चटगाँव (पाकिस्तान निर्माण से पहले का चटगाँव) भारत का एक मात्र बौद्ध-भूखण्ड है, जहाँ आज भी परम्परागत बौद्ध-धर्म विद्यमान है। मैं वहाँ का आदृत अतिथि था। जिस किसी गाँव में पहुँचने पर भी ज्वराक्रान्त होता, उसी में देखता कि गाँव के आधे लोग मलेरिया-ग्रस्त हैं और शेष आधे वैद्य-डाक्टर। दवाइयों की कमी न थी। त्रिफला तो मैं रोज़ ही पीता था। होमियोपैथ डाक्टरों की पुड़ियाँ और एलोपैथ डाक्टरों की कुनीन की गोलियाँ और मिक्सचर बदल-बदल कर चलते थे। खाने-पीने में अपनी ओर से बहुतेरा संयम करता था, किन्तु जब नित्य नया आतिथ्य होता हो तो कोई क्या संयम करेगा? देवियाँ कई-कई मील से चलकर आतीं और उनका आग्रह होता कि जो विशेष पदार्थ वे लायी हैं, उसमें से मैं अल्पमात्र अवश्य लूँ। बहुधा बचा जाता। कभी-कभी लेना ही पड़ता। अच्छा-ख़ासा क्रम बन गया था, जिसमें हर तीसरे-चौथे दिन आने वाला मलेरिया व्यतिक्रम न होने देता।

इधर बारह-तेरह वर्षों में 'सुइयों' ने और ज़ोर पकड़ा है। अब तो जैसे हर बीमारी की गोलियाँ मिलती है, वैसे ही हर बीमारी में सुइयाँ भी। उस समय इसमें कुछ कमी रही होगी नहीं तो क्या कारण था कि लगभग तीन महीने तक डाक्टरों की दवाइयाँ खाते रहने पर भी किसी डाक्टर ने कोई सुई नहीं घोंची। आख़िर एक दिन उसकी भी बारी आ ही गयी। एक डाक्टर ने कुनीन का इंजैक्शन कंधे के नीचे, पीठ में दे ही दिया। बुख़ार तो नहीं रुका, पीठ सूज गयी। किसी भी करवट न लेट सकता था। जीवन में जो दो-चार बार नरक की-सी यातना भुगतनी पड़ी है, कुनीन के इस इंजैक्शन का लेना उनमें से एक अवसर है। मैंने तय किया कि चाहे जो हो, अब मैं किसी देहात में न रहूँगा। जैसे भी होगा चटगाँव शहर के अस्पताल में पहुँचकर भर्ती हो जाऊँगा। मुझे नौका में डालकर चटगाँव शहर लाने की तैयारी

होने लगी। गाँव के डाक्टर को पता लगा तो वह दौड़ा-दौड़ा आया—

"भन्ते, आप इस प्रकार यहाँ से चले जायँगे तो मेरी इतनी बदनामी होगी कि फिर मेरी प्रैक्टिस नहीं चल सकेगी। आप घबरायें नहीं, दो-एक दिन में सूजन पटक जायगी।"

जो वेदना मेरे लिए असह्य थी, उसे डाक्टर एक-दो दिन यूँ ही सहते रहने का परामर्श दे रहा था। लेकिन यह अब उसके भी क्या वश की बात थी? मैंने भी सोच-विचार किया। अन्त में कहा—

"डाक्टर साहब! भिक्षु के शरीर का कोई बहुत मूल्य नहीं। मेरे जाने से आपकी प्रैक्टिस पर असर नहीं पड़ना चाहिए। मैं जैसे भी होगा यहीं पड़ा रहूँगा।"

दो-तीन दिन तक पीठ सेंकी जाती रही। सूजे हुए हिस्से पर स्पिरट लगती रही। सूजन कम हो गयी। जब मैंने देखा कि अब मेरा गाँव छोड़ना उस डाक्टर के लिए विशेष बदनामी का कारण न होगा तब मैं चटगाँव शहर चला आया। फिर चटगाँव में भी अधिक न रहा। कलकत्ते आया। घूमते-फिरते जलवायु परिवर्तन में कहीं-न-कहीं वह मलेरिया छूट गया। छुट गया, सो छुट गया।

ऐसा तो नहीं कि मलेरिया के उस इंजैक्शन ने ही इतने दिन बाद अपना प्रभाव दिखाया हो? किसी वस्तु विशेष का गुण सिद्ध करना ही हो तो इस प्रकार का तर्क भी दिया ही जा सकता है।

यहाँ वर्धा में कभी अस्वस्थ हो जाता हूँ तो भरसक ठण्डे पानी, गरम पानी, मिट्टी-एनिमा, भोजन परिवर्तन से ही चंगा हो जाता हूँ। समिति के डाक्टर श्री त्रिवेदी भी मेरी इस प्रवृत्ति से परिचित हैं। जहाँ तक बन पड़ता है, वह मुझे दवाई नहीं देते। कभी-कभी जब मेरी अक्ल काम नहीं करती तो कोई दवाई ले भी लेता हूँ। किन्तु इंजैक्शन की नौबत नहीं आती। यह सब होने पर भी इस वर्ष बिना किसी रोग के तीन इंजैक्शन लेने पड़े।

हरिद्वार कुम्भ के अवसर पर मैं दिल्ली था। सेठ गोविन्ददास ने अपने

'गौ सेवा सम्मेलन' के सिलसिले में कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार चलने का आग्रह किया। सरकारी नियम था कि हैज़े का टीका लगवाना पड़ेगा। टण्डन जी द्वारा गौ सेवा सम्मेलन के उद्‌घाटित होने की बात थी। कुम्भ में प्रवेश के लिए टीका लगवाना आवश्यक होने के कारण उन्होंने हरिद्वार जाना ही स्वीकार नहीं किया।

तभी सुनने में आया कि दिल्ली में बहुत थोड़े से पैसों में हैज़े के टीके का सर्टिफ़िकेट प्राप्य है। मैं हरिद्वार जाना भी स्थगित कर सकता था और विवश किये जाने पर टीका भी लगवा ही सकता था, किन्तु काले-बाज़ार में सर्टिफ़िकेट ख़रीदना मुझसे नहीं हो सकता था। सेठ गोविन्ददास जी की कृपा से उनके घर पर ही एक डाक्टर ने हैज़े का टीका लगा दिया। सेठ गोविन्ददास का तो मत है कि इन सुइयों का सामान्य स्वास्थ्य से कोई सम्बन्ध नहीं। वे प्रतिवर्ष घर के लोगों की बाहें बिंधवाते रहते हैं। टण्डन-जी और गोविन्ददास जी हिन्दी के एक दूसरे से बढ़कर आग्रही हैं, किन्तु इन सुइयों के मामले में दोनों के मत एक दम भिन्न! प्रसिद्ध सूक्ति है—'वह मुनि ही नहीं जिसका मत भिन्न न हो।'

हरिद्वार से लौटे अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि लंका से तार द्वारा विश्व बौद्ध सम्मेलन में सम्मिलित होने का निमंत्रण मिला। समय थोड़ा था। पासपोर्ट की व्यवस्था की और जैसे-तैसे लंका पहुँचा। लंका मेरे लिए भारत का ही एक दूसरा प्रान्त है और भारत के कई प्रान्तों की अपेक्षा मैं लंका से अधिक परिचित हूँ। वहाँ भारत से जो कोई भी जाता है उसे चेचक (स्मालपौक्स) का टीका लगवाना ही पड़ता है। कुछ वर्ष पुरानी आप-बीती इस प्रकार है—

दूसरी बार इंगलैण्ड जाने के सिलसिले में मैं लंका पहुँचा। यहाँ भारत में रहते टीका न लगवा सका था, इसलिए मुझे वहाँ कोरा-टीन आफ़िस में जाना पड़ा। डाक्टर बोला—

"आपने टीका नहीं लगवाया?"

"मुझे टीका लगवाने के औचित्य में सन्देह है।"

"सन्देह हो, चाहे जो हो। क़ानून है। टीका लगवाना ही होगा।"

"यदि मैं टीका न लगवाऊँ तो आप क्या करेंगे?"

"जो क़ानून कहेगा सो करेंगे।"

"तो आपको जो क़ानून कहता हो कीजिए, मैं टीका नहीं लगवाता।"

जेल जाने तक की मेरी तैयारी देखकर सिंहल के एक धनी-मानी सज्जन स्वर्गीय श्री एन० डी० सिल्वा घबरा गये। बोले—

"भन्ते, आप यह क्या करने जा रहे हैं?"

तब तक डाक्टर बोला—

"मैं आपसे एक बात कहता हूँ, वह सुन लीजिए, फिर जो इच्छा हो सो कीजिएगा। आप बौद्धों के सम्मानित व्यक्ति हैं। मैं ईसाई डाक्टर हूँ। भीड़ में आपके साथ कुछ करूँगा तो कल पत्रों में छपेगा कि एक ईसाई डाक्टर ने एक बौद्ध भिक्षु को हैरान किया। क्या आप चाहते हैं कि आपके इस आचरण के कारण देश में साम्प्रदायिक भावना पैदा हो?"

"नहीं, मैं अपने आग्रह को इतना महत्व नहीं दूँगा। आप अपने कम्पाउंडर को आज्ञा दीजिए कि वह टीका लगा दे।"

कम्पाउंडर ने हाथ पर एक बिन्दी-सी डाल क़लम से तीन लकीरें काटीं। तब तक मैं समझता रहा कि वह टीका लगाने की तैयारी कर रहा है, कम्पाउंडर बोला—"टीका लग चुका है।"

डाक्टर ने कहा—"अब आप जो चाहें करें। चाहे नीबू लगायें और चाहे और कुछ।"

मैं समझ गया कि नीबू ही इसका निषेध है। घर पहुँचते ही नीबू रगड़ दिया। कहीं कुछ असर न हुआ।

और इस बार!

हाँ, इस बार भी यही हुआ। लंका पहुँचा तो पता लगा कि पहले तो केवल चेचक का टीका लगवाना पड़ता था अब उसके साथ लेना पड़ता है

कालरा का इंजैक्शन भी ! डाक्टर के पास न जाता तो भी चल जाता, लेकिन लौटते समय इंजैक्शनों का सर्टिफ़िकेट बिना दिखाये टिकट मिलने की आशा न थी। मैंने डाक्टर से कहा, "कालरा का इंजैक्शन तो कुछ ही दिन पहले लिया है।"

बोला—"सर्टिफ़िकेट ?"

मैंने कहा—"सर्टिफ़िकेट तो मैंने पास रखा नहीं। यह ध्यान नहीं था कि अभी लंका आना होगा। वहाँ उसकी आवश्यकता पड़ सकती है।"

"हमें इंजैक्शन से मतलब नहीं। सर्टिफ़िकेट से मतलब है। हम आपको यह अन्तर्जातीय सर्टिफ़िकेट की कापी देते हैं। आपको जब जहाँ जाना हो, यह सभी जगह काम देगी।"

वह अन्तर्जातीय सर्टिफ़िकेट लेने के लिए मुझे एक ही हाथ में एक ही दिन चेचक का टीका और कालरा का इंजैक्शन लेना पड़ा। सप्ताह तक हाथ उठाये नहीं उठा। लकड़ी बना रहा। मैं मजबूर था।

मलाबार-हिल, बम्बई का अनुभव याद आ रहा है—

श्री कन्हैयालाल मुंशी के यहाँ ठहरा हुआ था। उसी समय कर्मवीर-सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी भी वहीं विराजमान थे। उनके साथ एक सोलह-सत्तरह वर्ष का तरुण था। नाम स्मृति से उतर गया है, उसकी एड़ी में कुछ कष्ट था। चतुर्वेदी जी से कहकर वह पास के डाक्टर साहब के पास गया। बड़ी देर तक न लौटा। चतुर्वेदी जी चिन्तित हुए। मैंने उनकी चिन्ता अपने सिर ली और डाक्टर के यहाँ पहुँचा। देखा लड़के का पैर लहू-लुहान है और उसमें पट्टी बँधी है। मुझे देखते ही डाक्टर बोला—

"मैंने इस लड़के को बहुत समझाया कि इसे आपरेशन की कोई ज़रूरत नहीं है। यह मानता ही नहीं था। आख़िर मैंने आपरेशन कर दिया।"

"तो अब आप क्या करने जा रहे हैं ?"

"आपरेशन से जो दर्द हो रहा है उसे कम करने के लिए इंजैक्शन देने जा रहा हूँ।"

मुझे डाक्टर की बेहूदगी पर क्रोध आया। अपने विवेक के विरुद्ध उस लड़के के कहने पर उसने उसका पैर काट डाला था किन्तु अब क्या करता ? चुप बैठा रहा। थोड़ी देर में लड़का चिल्लाया। मैंने पूछा—

"डाक्टर साहब यह क्या ?"

"इंजैक्शन ज़रा उधर चला गया है।"

"मालूम होता है कि आप इस लड़के पर अपने तजुरबे कर रहे हैं।"

"क्या आप समझते हैं कि मैं तजुरबे कर रहा हूँ ?"

बात बढ़ाने से और डाक्टर को गुस्सा दिलाने से कोई लाभ न था। उसके हाथ में शस्त्र था। न जाने कहाँ कैसे गड़ा दे। मैं चुप ही रहा। डाक्टर इंजैक्शन दे चुका तो उस भाई को जैसे-तैसे मोटर में डाल कर मैं घर ले आया।

आज भी सोचता हूँ कि वह कैसा डाक्टर है जो बम्बई में और मलाबार-हिल पर प्रैक्टिस कर रहा है। वह तो मुझे लाइसेन्स प्राप्त हत्यारा लगा।

हम प्राचीन मिथ्या-विश्वासों से मुक्त हो रहे हैं। इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम सावधान रहें कि हमें आधुनिक मिथ्या-विश्वास ग्रस न लें।

मैं भी सूत कातता हूँ

★

भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में एक समय था जब सूत कातना प्रगतिशीलता का लक्षण था। आज तो वह कदाचित् प्रतिक्रियावादिता का चिन्ह माना जाने लगा है। इस युग-परिवर्तन की पूरी जानकारी रखते हुए भी मैं सूत कातता हूँ।

मेरे दार्शनिक को जब कोई और काम नहीं रहता तो उसे जीवन की सूत के कच्चे धागे से उपमा देना ही अच्छा लगता है। सूत का कच्चा धागा! न जाने कब और किस क्षण टूट जाय! सावधानी से काता जाय, सँभल-सँभल कर काता जाय तो जीवन-सूत्र स्वच्छ, सुदृढ़ और लम्बा बन जाता है।

बचपन में सुनी एक उपमा याद आ गयी—

'पैसा ही रंग-रूप है, पैसा ही 'माल' है,
पैसा न हो तो आदमी चरखे की 'माल' है।'

इस उपमा का कोई यह अर्थ न लगाये कि पैसों के महात्म्य के औचित्य को स्वीकार किया गया है। इस उपमा में केवल वस्तु-स्थिति का उल्लेख-मात्र है। सचमुच आज जीवन में वास्तविक धन का नहीं, किन्तु धन के प्रतीक

पैसे का जो स्थान और अधिकार हो गया है, उसके रहते, बिना पैसे के आदमी का हाल चरखे की माल से भी बदतर है।

हाँ, तो मैं सूत क्यों कातता हूँ ? मेरा सीधा-सादा उत्तर है—क्योंकि मैं कपड़ा पहनता हूँ।

निवृत्ति प्रधान श्रमण-संस्कृति को मेरे सूत कातने पर कई आपत्तियाँ हैं। एक तो यह है कि श्रमण को किसी भी चीज़ के उत्पन्न करने का अधिकार नहीं है। मेरा उत्तर है कि सूत कातना किसी भी चीज़ को उत्पन्न करना नहीं है। यह तो केवल पूनी को सूत के रूप में परिवर्तित करना है।

सूत कातना 'उत्पन्न' करना हो या 'परिवर्तित' करना, उसके मूल में जो निषेधात्मक आपत्ति है उसका मूल कारण इतना ही है कि सभी प्रवृत्तियों के मूल में संग्रह और परिग्रह है, और यह संग्रह और परिग्रह बढ़ते-बढ़ते श्रमण के श्रमणत्व को नष्ट कर दे सकता है। श्रमण की जीविका का आधार है भिक्षा। जिस प्रकार वह खाने के लिए अन्न पैदा नहीं करता, किन्तु पका-पकाया दाल-भात ही भिक्षा रूप में ग्रहण करता है, उसी प्रकार उसे सूत कातने आदि के प्रपंच में न पड़कर बना-बनाया वस्त्र ही दान रूप में ग्रहण करना चाहिए।

हर व्यक्ति की कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। श्रमण भी उस नियम का अपवाद नहीं। व्यक्ति, कोई भी हो, अपनी आवश्यकताओं को घटा-बढ़ा सकता है, किन्तु उन्हें समूल नष्ट नहीं कर सकता। व्यक्ति की कितनी आवश्यकताओं को उचित माना जाय, इसमें देश-काल ही नहीं, उस व्यक्ति का कार्य, आयु और स्वास्थ्य तक प्रमाण है। धार्मिक नियम व्यक्ति को बाँध सकते हैं, उसे संयत नहीं बना सकते। व्यक्ति की आवश्यकताओं का सच्चा निर्णायक उसका अपना विवेक ही है।

अपनी आवश्यकता की पूर्ति के थोड़े अथवा बहुत साधनों को अपने पास रखने मात्र को संग्रह भले ही कहा जा सके, किन्तु उसे अनिवार्य रूप से परिग्रह नहीं कहा जा सकता। यदि हम संग्रह मात्र को परिग्रह मानने लगें तो आदमी जितनाही दरिद्र हो उतना ही अपरिग्रही भी माना जाना चाहिए।

संग्रह और परिग्रह के सूक्ष्म भेद को बिना समझे दरिद्र और अपरिग्रही का अन्तर समझ में आ ही नहीं सकता।

मेरी मान्यता है कि यदि कोई श्रमण कातने की इच्छा से एक तकली या एक चरखा भी अपनी आवश्यकताओं में शामिल कर लेता है तो वह उतने से अनिवार्य रूप से परिग्रही नहीं होता।

लेकिन हम वस्त्र अथवा कोई भी दूसरी चीज़ उत्पन्न करने से इतना डरें ही क्यों? समाज अथवा समाज के कुछ लोग वस्तु को उत्पन्न करें और उसी समाज के अन्य कुछ लोग उस उत्पन्न वस्तु के परिभोग मात्र में हिस्सेदार हों—इसमें क्या कोई बड़ी आदर्शवादिता अथवा आध्यात्मिकता है? हर व्यक्ति हर वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु हर व्यक्ति किसी-न-किसी वस्तु को तो उत्पन्न कर ही सकता है। हम श्रमण कहलाने वाले जीव भी यदि समाज के सामूहिक भंडार को अपनी अल्प अथवा अधिक सामर्थ्य के अनुसार किसी-न-किसी वस्तु की उत्पत्ति द्वारा कम-से-कम उस मात्रा में भरने का प्रयत्न करें, जिस मात्रा में हम उसमें से कुछ-न-कुछ ग्रहण करते ही हैं, तो इसमें आख़िर क्या हर्ज़ है।

कहने वालों का कहना है कि साधक अपनी आध्यात्मिक साधना से और विद्वान अपनी विद्वत्ता से जिस मात्रा में समाज के सामूहिक भंडार की पूर्ति करता है, उसके बाद उससे और किसी भी तरह की अपेक्षा रखना अपने अविवेक का परिचय देना है। मेरा निवेदन है कि साधक की आध्यात्मिक साधना और विद्वान की विद्वत्ता के बावजूद जब उन दोनों को रोटी-कपड़े की आवश्यकता रहती ही है, और दूसरे सामान्य-जनों से कुछ कम नहीं रहती, तो फिर वे किसी-न-किसी भौतिक वस्तु की उत्पत्ति में भी सीधा हिस्सा क्यों न लें? उन्हें समझ लेना चाहिए कि उनकी आध्यात्मिक साधना और विद्वत्ता प्रधान रूप से उनके अपने लिए है, किन्तु किसान का अन्न-वस्त्र उसके अपने लिए और उनके लिए—दोनों के लिए है।

क्या आध्यात्मिक साधना और भौतिक वस्तु की उत्पत्ति के प्रयत्नों में सचमुच एकदम तीन-छः का सम्बन्ध है? क्या आध्यात्मिक साधना के लिए

यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि साधक को बिना हाथ-पैर हिलाये, निठल्ले बैठे ही खाना-कपड़ा मिला करे? अपनी तो विनम्र मान्यता है कि हमारी भौतिक खटपट ही वह कसौटी है जिस पर हमारी आध्यात्मिक साधना की नित्य-प्रति परख होती रहती है। जो आध्यात्मिक साधना दिन-रात की सांसारिक खटपट पर खरी नहीं उतरती, उसमें निश्चय ही कुछ खोट है।

मेरे सदृश किसी एक सामान्य श्रमण का सूत कातना तो सांसारिक खटपट का अथवा भौतिक कर्तृत्व का एक प्रतीक मात्र है। भौतिक लाभ इसमें इतना ही है कि यदि कोई नियमपूर्वक कातता रहे तो वह अपने वस्त्रों के लिए स्वावलंबी हो सकता है और यदि कहीं वह अपने ही कते सूत के वस्त्र पहनने का संकल्प कर ले तो वह अनायास बहुत से अनावश्यक प्रपंच से भी बचा रह सकता है। यह न व्यक्ति के लिए ही कम लाभ है और न समाज के लिए ही।

सूत कातने जैसी सांसारिक खटपट का आध्यात्मिक साधना से न केवल कोई विरोध ही नहीं है, किन्तु वह उसकी सहायक और पूरक है। आपकी इच्छा की पूर्ति न होने से अथवा उसके प्रतिकूल कोई कार्य हो जाने से यदि आप खीझ उठे हैं अथवा मिजाज़ चिड़चिड़ा हो गया है तो यह चरखा लेकर कातने बैठने का सर्वोत्तम समय है। मन का चिड़चिड़ापन बनाये रखकर आप कात न सकेंगे और कातने के लिए—सूत न टूटने देने के लिए—आपको अपने आपको शान्त करना ही पड़ेगा। दूध-सा स्वच्छ सूत और चन्द्रमा की शान्ति जैसी शान्ति, दोनों एक साथ। प्रयत्न एक और सिद्धियाँ दो।

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आध्यात्मिक साधना जैसी बड़ी-बड़ी बातों को छोड़ दें तो सूत कातने के पक्ष में मेरे लिए एक बड़ा आकर्षण है—अपनी कर्तृत्व इच्छा की अल्प-स्वल्प पूर्ति।

मुझे जर्मनी में एक साठ वर्ष के जवान मिले थे। उनका कहना था कि उन्हें किसी ऐसी चीज़ के उपयोग में कुछ भी रस नहीं आता जिसे उन्होंने अपने हाथ से न बनाया हो। उनकी कुर्सी उनके अपने हाथ की बनी थी। उनकी मेज़ उनके अपने हाथ की थी। उनकी चारपाई उनके

अपने हाथ की थी। उनकी किताबों की जिल्द उनके अपने हाथ की बँधी थी। सचमुच अपने हाथ के तार-तार कते सूत से बने कपड़े के पहनने में जो आनन्द है वह पैसों के बल पर बाज़ार से गज़ों थान ख़रीदने में कहाँ!

उस दिन मैं बैठा कात रहा था। मेरे एक प्रगतिशील मित्र—एक प्रसिद्ध समाजवादी नेता—कमरे में आये। बोले—"तुम्हारे कातने से क्रान्ति होगी!"

"न, मेरे कातने से नहीं होगी, तुम्हारे सिगरेट पीने से होगी!"

मैं क्रान्ति की बात नहीं कहता, यदि कहता हूँ तो व्यक्तिगत क्रान्ति की। सामूहिक क्रान्ति सामूहिक प्रयत्न की चीज़ है। धार्मिक लोगों के लिए जो आकर्षण स्वर्ग में है, सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए उससे कहीं बढ़कर आकर्षण क्रान्ति में। स्वर्ग और क्रान्ति में इतना ही अन्तर है कि स्वर्ग परलोक की वस्तु है और क्रान्ति इहलोक की। यह अन्तर कोई छोटा अन्तर नहीं है।

मैं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की भी कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं करता। इन बड़ी-बड़ी मशीनों के युग में क्या मेरी तकली और क्या मेरा चरखा। ग़रीब तकली-चरखे को तो व्यर्थ में मशीनों का विरोधी समझ लिया गया है। इनका अपराध इतना ही है कि यह साधनहीन सर्वहारा की मशीनें हैं और इसीलिए कदाचित् यह किसी भी पूँजीवादी को फूटी आँख नहीं भातीं।

मैं आध्यात्मिक साधना की भी बढ़ी-चढ़ी बात नहीं करता। वह वस्तु मेरे लिए कुछ उतनी ही अज्ञेय है जितना डाक्टर और वैद्यों के लिए क्षय का रोग। किन्तु यदि आध्यात्मिक साधना नाम की कोई सारवान वस्तु है तो मेरी तकली और मेरा चरखा क़तई उसके विरोधी नहीं।

इसी से मैं जब-तब सूत कातता हूँ।

अति-सात्विकता

मेरी निजी राय है कि "अति-सात्विकता" पर कभी भाषण देने की ज़रूरत पड़ जाय तो सब से अच्छा भाषण है मौन ! जो दिया तो जा ही सकता है, किन्तु सुना नहीं जा सकता।

गीता में "श्रद्धा" तीन प्रकार की कही गयी है—सात्विक, राजसी, और तामसी।

"आहार" भी तीन प्रकार का कहा गया है—सात्विक, राजसिक और तामसिक।

"यज्ञ" भी तीन प्रकार का कहा गया है—सात्विक, राजसिक और तामसिक।

"तप" भी तीन प्रकार का कहा गया है—सात्विक राजसिक और तामसिक।

"दान" भी तीन ही प्रकार का कहा गया है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। गीता का यह भेद मानव जीवन के त्रिविध वर्गीकरण पर आश्रित है।

मेरे एक मित्र ने एक बार कहा—गुण तीन हैं। कौन से?

सत, रज, तम ! दूसरे ने कहा, पाँच हैं। भाई, कौन से ? सत, रज, तम, दम और हम !

मानव प्रवृत्तियों का यह वर्गीकरण जितना पुराना है, शायद उतना सूक्ष्म नहीं। एक पुरानी कथा में इसे और भी अधिक स्थूल रूप दिया गया है।

"पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। बोधिसत्व अर्थात् भावी बुद्ध ने उसकी पटरानी की कोख में जन्म ग्रहण किया। नामकरण के दिन नाम ब्रह्मदत्त राजकुमार ही रखा गया।

क्रम से बढ़ते हुए, सोलह वर्ष की आयु में वह तक्षशिला शिल्प सीखने गया। सब शिल्पों में निष्णात हो वह घर लौटा। पिता के मरने पर राजा बन धर्म तथा न्याय से राज्य करने लगा। उसे धर्म से राज्य करते देख अमात्य भी धर्म से ही मुक़द्दमों का फ़ैसला करते। धर्म से मुक़द्दमों का फ़ैसला होने पर झूठे मुक़द्दमे करने वाले नहीं रहे। न्यायालय खाली हो गये।

बोधिसत्व अर्थात् राजा ब्रह्मदत्त द्वितीय सोचने लगा—मेरे धर्मानुसार राज्य करने के कारण न्यायालय खाली हो गये। मेरे लिए कोई काम नहीं रहा। अब मुझे अपने दुर्गुणों की खोज करनी चाहिए। उनका पता लगाकर मैं गुणवान बनूँगा।

उसने अपने दोष बताने वालों की महल में खोज की। अमात्यों में खोज की। कहीं कोई उसके दोष बताने वाला नहीं मिला। सब उसकी प्रशंसा करने वाले ही मिले।

तब उसने अपने इलाक़े में दोष बताने वालों को खोजना चाहा। अमात्यों को राज्य सँभाल, वह अपने सारथी को साथ ले नगर से निकला। उसके जनपद भर में कोई उसके दोष बताने वाला नहीं मिला। उसने राज्य से बाहर जाने का संकल्प किया।

उसी समय मल्लिक नाम का कोशल नरेश भी धर्म से राज्य करने के कारण अपने दोष ढूँढ़ने निकला था। जब महल के अन्दर, नगर के अन्दर,

और नगर के बाहर भी कहीं कोई उसके दोष बताने वाला नहीं मिला, तो वह भी अपने राज्य की सीमा से बाहर निकला।

दोनों राजा एक सँकरे रास्ते पर आमने-सामने हुए। वहाँ एक दूसरे के रथ को गुज़रने देने के लिए जगह न थी। मल्लिक राज के सारथी ने वाराणसी राजा के सारथी से कहा, "अपने रथ को लौटा ले।"

वाराणसी राजा का सारथी बोला, "तू अपने रथ को लौटा ले। मेरे रथ में वाराणसी राज्य के स्वामी महाराजा ब्रह्मदत्त बैठे हैं।"

मल्लिक सारथी ने कहा, "मेरे रथ में कोशल राज्य के स्वामी मल्लिक महाराज बैठे हैं। तू अपने रथ को पीछे लौटा। हमारे राजा के रथ को जगह दे।"

वाराणसी राजा के सारथी ने सोचा—दोनों ओर राजा हैं। क्या किया जाय? उसे एक उपाय सूझा। दोनों की आयु पूछी जाय। जो आयु में कम हो, वही पीछे लौट जाय।

आयु पूछी गयी—बराबर।

राज्य विस्तार पूछा गया—बराबर।

सेना पूछी गयी—बराबर।

धन पूछा गया—बराबर।

जाति पूछी गयी—बराबर।

कुल पूछा गया—बराबर।

गोत्र पूछा गया—बराबर।

तब सोचा गया—जो अधिक शीलवान हो, जो अधिक सदाचारी हो, उसी के रथ को आगे बढ़ने दिया जाय।

वाराणसी सारथी बोला, "तुम्हारे राजा में कौन-कौन से गुण हैं?"

मल्लिक राजा के सारथी ने उत्तर दिया, "हमारा मल्लिक राजा कठोर के साथ कठोरता का व्यवहार करता है। कोमल के साथ कोमलता का, भले आदमी को भलाई से जीतता है, बुरे को बुराई से, सारथी! यह राजा ऐसा है। तू मार्ग छोड़ दे।"

वाराणसी राजा का सारथी बोला, "तूने अपने राजा के गुण कह लिये ?"

"हाँ, कह लिये।"

"यदि यही गुण हैं, तो अवगुण कौन से होते हैं ?"

"अच्छा, यह अवगुण ही सही, तुम्हारे राजा में कौन-कौन से गुण हैं ?"

"हमारे राजा के गुण लो सुनो—हमारा राजा, क्रोधी को अक्रोध से जीतता है। बुरे को भलाई से जीतता है। कंजूस को दान से जीतता है। झूठे को सत्य से जीतता है। यह राजा ऐसा है, इसलिए सारथी ! तू मार्ग छोड़ दे।"

यह क्रोध को अक्रोध से जीतना, यह असाधुता को साधुता से जीतना, यह कंजूसपन को दान से जीतना, यह झूठ को सचाई से जीतना ही जीवन की सात्विकता है—व्यक्ति और समाज के जीवन को सरल बनाने वाली ! किन्तु जिस प्रकार दाल में नमक की अति मात्रा उसका बुरा हाल कर देती है, उसी तरह अति-सात्विकता भी आदमी को कभी-कभी "वैशाखनन्दन" ही बना कर छोड़ती है।

राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी थे, दानी थे, परमसत्यवादी, परम-दानी! क्या हाल हुआ ? काशी की सड़कों पर टके के तीन-तीन बिके ; बिचारी रानी-शैव्या का पुत्र रोहतास सर्प-दंश से मरा तो उसके लिए कफ़न नहीं। मरघट पर जलाने ले गयी तो उसे हरिश्चन्द्र ने जलाने न दिया। कल्पना कीजिए... बच्चा मरा पड़ा है, माँ जलाना चाहती है, पिता जलाने नहीं देता। यह सब किस की बदौलत ? इसी "अति-सात्विकता" की बदौलत। सभी धर्मों ने लोगों को झूठ बोलने से मना किया है। तो क्या इसका यह मतलब है कि आदमी मूर्खों की तरह सच बोले ? प्रसिद्ध बौद्ध धर्म प्रचारक अनागरिक धर्मपाल मृत्यु शैया पर पड़े थे। बोले, "डाक्टर, मैं समझता हूँ कि मर रहा हूँ।"

सत्यवादी डाक्टर बोला, "हाँ हाँ, मैं भी यही समझता हूँ कि आप

मर रहे हैं।"

झूठ, सच से कभी अच्छा नहीं होता, किन्तु क्या ऐसे सच से झूठ भी अच्छा नहीं लगता?

प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़ो तो लगता है कि उनके पास दुनिया भर की अक़्ल का ख़ज़ाना था। माता शिवरानी देवी ने अपनी स्नेह-सिक्त भाषा में प्रेमचन्द की यह तस्वीर खींची है......

'एक दिन एक महाशय मेरे यहाँ आये और बोले कि रेल में मेरा कोट चोरी चला गया है उसी में रुपये भी थे......'

मुझ से आप (प्रेमचन्द) बोले, "इनको पन्द्रह रुपये चाहिए। दे दो।"

"रुपये कहाँ हैं?"

"किसी भी तरह दो तो। मेरा बड़ा नुक़सान हो रहा है।"

मैंने उन्हें पन्द्रह रुपये दिये। वे लेकर विदा हुए।

पाँच-छः रोज़ के बाद वे फिर अपने बीवी-बच्चों को लेकर आये। मुझे फिर पन्द्रह रुपये देने पड़े।

इसी तरह की एक घटना और है। ग्वालियर से एक ख़त आया। मैं लखनऊ में थी। उस में लिखा था कि सौ रुपये आप भेज दें तो मुझे सौ रुपये महीने की एक नौकरी मिल जाय।

दूसरे दिन सौ रुपये बैंक से मँगवाकर उन्हें भेज देने पड़े।

तब से एक महीने तक बराबर उनके ख़त आते रहे। मेरे घर ठहरे। बोले, मैं छुट्टी लेकर केवल आप लोगों के दर्शन के लिए आया हूँ। मेरी माँ पहले ही मर चुकी थीं। मेरे पिता ने दूसरी शादी कर ली। मुझ से उन्हें बड़ी नफ़रत है। अब मैं इसी को अपना घर समझ रहा हूँ।

जब वे जाने लगे तो फिर उन्होंने पचास रुपये माँगे। वे दिये गये। उसके बाद उन्होंने पटना में अपनी शादी तै की। आप (प्रेमचन्द) को ख़बर दी। आपने उसकी बीवी के लिए हाथ की सोने की चार चूड़ियाँ, गले की ज़ंजीर, कर्णफूल और दो-तीन रेशमी साड़ियाँ ख़रीद कर दीं और सौ

रुपये नक़द बारात के खर्च के लिए भी दिये।

वह अपनी बीवी ब्याह कर लखनऊ लाये। तीन रोज़ के बाद उन्हें ढूढ़ती हुई पुलिस पहुँची।

एक दिन सुनार तक़ाज़ा करने आया। मैं उनके (प्रेमचन्द) पास बैठी थी। सुनार ने कहा—"रुपये चाहिए।" उसी सुनार से अपनी लड़की के लिए भी मैंने ज़ेवर बनवाये थे, बोली, "तुम्हारे रुपये तो पूरे दे दिये गये थे।"

सुनार—"वह रुपये नहीं। बाबूजी ने एक बंगाली सज्जन को और गहने बनवाकर दिये हैं।"

उसके कुछ दिन बाद बजाज़ पहुँचा। उस दिन भी मैं इत्तिफ़ाक से उसी कमरे में थी। पूछा, "तुम क्यों आये?"

"बाबूजी ने एक बंगाली बाबू को कपड़े दिलवाये हैं।"

"क्या तुम्हें भी रुपये नहीं मिले?"

"मिले होते तो क्या मैं ज़बरदस्ती आपसे माँगता?"

मैंने जिस दिन यह प्रकरण पढ़ा, मुझे फ़ारसी का एक शेर याद आ गया—जिसका भावार्थ है—

"ऐ बुद्धिमान से बुद्धिमान आदमी, मूर्ख तो तुझे बनना ही होगा, इसलिए बुराई का मूर्ख बनने की बजाय भलाई का मूर्ख बन।"

बुराई का मूर्ख बनने से भलाई का मूर्ख बनना सचमुच अच्छी बात है, किन्तु भलाई का भी अत्यधिक मूर्ख बनना कोई बहुत अच्छी बात नहीं।

एक बाजा बजाने वाले ने अपने गाँव से दूर एक उत्सव में जाकर बहुत-सा धन कमाया। लौटते समय रास्ते में जंगल था, जहाँ चोरों का डर था। उसने अपने लड़के से कहा कि लगातार बाजा न बजा कर बीच-बीच में बजा, जिससे चोर समझें कि श्रीमानों का बाजा है और कोई ऐश्वर्यवान चला जा रहा है। लड़का नहीं माना, निरन्तर बजाता रहा। चोर समझ गये कि यह ऐश्वर्यशालियों का बाजा नहीं। उन्होंने आकर पिता-पुत्र को लूट लिया। इसी से कहा है—

'धमे धमे नाति धमे अति फन्तं हि पापकं,
धंतेन सतं लद्धं अति धन्तेन नासितं।'

"बजाये-बजाये, लेकिन बहुत न बजाये। बहुत बजाना बहुत बुरा है। थोड़ा बजाने से धन मिला। बहुत बजाने से नष्ट हो गया।" भलाई के अत्यधिक मूर्ख बनने को ही "अति-सात्विकता" कहते हैं।

किन्तु मैं देखता हूँ कि लोग तो उस साधु की भी प्रशंसा करते हैं, जो एक बिच्छू से बार-बार अपनी देह छिदाता था। बिच्छू पानी में बहा जा रहा था। साधु ने दया करके हाथ में उठा लिया। बिच्छू ने डंक मारा। वह फिर साधू के हाथ से पानी में गिर पड़ा। साधू ने फिर उठाया। बिच्छू ने फिर डंक मारा और फिर पानी में। साधु ने तीसरी बार उठाया। जब फिर बिच्छू ने डंक मारा तो किसी ने पूछा—यह बार-बार डंक मारता है और आप इसे बार-बार उठाते हैं? साधु का उत्तर था—यह बिच्छू अपने डंक मारने के स्वभाव को नहीं छोड़ता, मैं साधु अपने रक्षा करने के स्वभाव को क्यों छोड़ दूँ?

इस प्रकार की कथाएँ, सुनने में चाहे जितनी अच्छी लगें, आचरण करने योग्य नहीं हैं। हम नहीं जानते कि ऐसे साधुओं की साधुता से समाज में साधुता की वृद्धि होती है या नहीं, किन्तु इसमें तनिक शक नहीं कि बिच्छुओं की वृद्धि अवश्य होती है।

एक अमेरिकन का कहना है—'जब मैं किसी अत्यधिक सात्विक आदमी को देखता हूँ तो समझ जाता हूँ कि यह एकदम गधा है।' हम भगवान बुद्ध की पत्थर की मूर्तियाँ देखते हैं। समझ लेते हैं कि जब वे जीवित रहे होंगे तब भी दिन-रात इसी तरह जड़ भरत बने बैठे रहे होंगे। नहीं, भगवान बुद्ध मुस्कराते भी थे, हँसते भी थे, और कभी-कभी डाँटते-फटकारते भी थे। वे बुद्ध थे, कोई पत्थर नहीं थे।

आप इतना याद रखें कि यदि तर्क प्रकाश है तो विनोद लालटेन है। जिस आदमी में विनोद की पर्याप्त मात्रा है, वह मिथ्या विश्वास की मूर्खताओं से सुरक्षित रहता है।

यदि आप किसी धर्म के पादरी-पुरोहित हैं, मुल्ला हैं और अति-सात्विकता का प्रचार करना आपका पेशा है तो आप भले कीजिए, किन्तु, "अति-सात्विक" बनने की कोशिश कभी मत कीजिएगा।

एक भले आदमी ने दूसरे से पूछा, "क्या आप एक प्याला चाय लेंगे ?"

"मैं पीता नहीं।"

"क्या आप एक सिगरेट लेंगे ?"

"मैं पीता नहीं।"

"क्या आप कुछ सुपारी आदि लेंगे ?"

"मैं खाता नहीं।"

"तो हम दोनों कुछ घास ही खायें।"

"मैं तुम्हें बताता हूँ कि मैं घास नहीं खाता।"

"तो नमस्कार, न आप किसी आदमी के साथी बन सकते हैं और न किसी जानवर के।"

शराब तो क्या सिगरेट पीने से भी मुझे इतनी ही घृणा है, जितनी झूठ बोलने से। तो भी मुझे इस बात का डर लगा रहता है कि मैं तो क्या, कहीं मेरा कोई साथी भी इतना अति-सात्विक न हो जाय कि बेचारे की गिनती न आदमियों में ही हो सके और न जानवरों में।

एक स्वामी जी महाराज ने एक बार हरी मिर्च ले ली। लोग चर्चा करने लगे—स्वामी जी आप मिर्च ले रहे हैं ?

"हाँ भाई, बात यह है कि हमने आयुर्वेद पढ़ा है।"

"भोजन की तरह जीवन भी थोड़े मिर्च-मसाले से सरस बन जाता है। उसे सचमुच "अति-सात्विक" होने की आवश्यकता नहीं।

लाल टोपी

यह 'लाल टोपी' है। कदाचित् आप को यह 'कम्यूनिज़्म' की याद दिलाये। इसे 'कम्यूनिज़्म' से कुछ लेना-देना नहीं।

आज मैंने इसके दो चीथड़ों को अपने पुराने कागज़ों में पड़े देखा और मेरे स्मृति-पटल पर उभर आयीं अठारह वर्ष पुरानी लकीरें—अधिक नहीं, दो ही चार। कुछ अक्षर जैसे अमर होते हैं, काल के मिटाये भी नहीं मिटते, उन्हीं अक्षरों का प्रतीक है, यह मेरी 'लाल-टोपी', इसके यह दो टुकड़े!

बौद्ध संन्यासी 'वेद' की परावलम्बता से मुक्त हैं—किसी भी ग्रन्थ को 'इलहामी' न स्वीकार कर सकने के कारण; किन्तु, यदि वह चाहे तो 'त्रिपिटक' को ही 'वेद' का स्थान दे सकता है—अपने धार्मिक भीरुपन की बदौलत। 'त्रिपिटक' में एक पिटक है—विनय पिटक, जिसने अपने अनुशासन माननेवालों को इतने ब्योरे में अनुशासित कर रखा है कि उत्तर-मध्यकाल के स्मृतिकार भी तोबा मानें। ग्रन्थ के अनुशासन से बढ़कर होता है परम्परा का अनुशासन। ग्रन्थ का अनुशासन वह शिथिल-बंधन है जिसे चतुराई से खिसकाया जा सकता है, किंतु परम्परा का अनुशासन वह अनुल्लंघनीय

सीमा है जिसके लाँघने पर मनुष्य समाज के दण्ड से बच ही नहीं सकता।

१६३२-३३ में जब मैं बौद्ध धर्म प्रचारार्थ इंगलैण्ड में था तो उस समय की कुछ बातें आज भी मेरे मनोरंजन का साधन हैं, दूसरे तो उन्हें जान कर मेरा मज़ाक़ उड़ायेंगे ही। आदमी अपने को कितना भी बुद्धिमान समझे, उसे यह मान लेना चाहिए कि मूर्ख तो उसे समय-समय पर बनना ही होगा—'बुराई' का मूर्ख न बनकर 'भलाई' का मूर्ख बने, इतना बहुत है।

हाँ, तो मैं आज अपनी 'मूर्खता' का ही एक संस्मरण लिखने जा रहा हूँ। पाठक, दया करके हँसें नहीं।

गत जनवरी में मुझे सिर मुड़ाये— भिक्षु बने—पूरे २३ वर्ष हो गये। इन २३ वर्षों में न जाने कितने लोगों ने मेरी हजामत बनायी होगी। आज मेरे अनेक 'प्रगतिशील' श्रमण-भाई सिर के बाल रहते केवल 'शेव' कर लेते हैं। किन्तु उन सबकी अपेक्षा अधिक 'प्रगतिशील' समझा जाने वाला होकर भी मैंने पूरे २३ वर्ष तक हमेशा सिर और दाढ़ी को एक साथ ही मुड़वाया है। मेरे इस मुण्डन-यज्ञ का एक भी अपवाद नहीं।

मुझे इस समय अपने एक नैपाली बंधु याद आ रहे हैं, जिन्होंने मेरे सिर को ही छील-छालकर दूसरों की 'हजामत' बनाना सीखा। इंगलैण्ड में मैंने 'मितव्ययी' होने की इच्छा से स्वयं अपनी हजामत आप बनानी शुरू की। मेरी हजामत की तारीफ़ यह थी कि मैं सेफ़्टी रेज़र तक से सिर से खून निकाल लेता था। मेरे सहृदय साथियों को दया आयी। उन्होंने मेरे उस 'मितव्यय' पर प्रतिबंध लगा दिया। घर पर नाई बुलाया जाने लगा। उस नाई को प्रति सप्ताह एक हजामत का एक रुपया बारह आना दिया जाता था।

कुछ वर्ष पहले की बात है—सारनाथ का एक नाई बार-बार हजामत के लिए पूछ जाता था। बदले में मिलते थे उसे दो पैसे। मैंने एक दिन पूछा—"दो पैसे के लिए यह कितनी बार आता है! गाँव वाले इसे क्या देते हैं?" उत्तर मिला—"कुछ नहीं। घर में अन्न आने पर कुछ दे

देते हैं।"

इंगलैण्ड में एक भिक्षु के सीधे-सादे मुण्डन के लिए अँग्रेज़ नाई 'चार्ज' करता था पौने दो रुपये! उसके सैलून में जाओ तो वह सस्ता था।

भारत में जो नाई घर-घर घूमकर हजामत बनाता है, वही सस्ता है। सैलून ही मँहगा पड़ता है। हाँ, यदि सैलून वाला नाई अपनी दूकान छोड़कर आये तो वह भारत में भी ड्योढ़े पैसे लेता है।

मेरी इस हजामत की विशेषता यह थी कि न यह गर्मी जानती थी, न सर्दी। प्रति दूसरे शनिवार को—चाहे बर्फ़ ही क्यों न पड़ती हो, मेरा 'मुण्डन' होता ही था। वह धर्म ही क्या जो इतना जड़ भी न हो!

अब आप कल्पना कीजिए—एकदम घुटी हुई चाँद और उसपर इंगलैण्ड की बर्फ़ीली सर्दी!

एक दिन एक अँग्रेज़ ने 'भिक्षु' बनने के बारे में कुछ गंभीरता से विचार करते हुए पूछा—"और तो समझ में आ गया, आप यह बताइए कि आप भारत की असह्य गर्मी में अपने सिर को किस प्रकार सुरक्षित रखते हैं?"

मैंने अपना चीवर सिर पर ओढ़ते हुए कहा—"इस तरह।"

बोला—"इतना आसान!"

घर में बैठकर कोई भी भारत की गर्मी और इंगलैण्ड की सर्दी से किसी भी तरह सिर की रक्षा कर ही सकता है। एक भिक्षु को जब सभा में जाना हो तो बेचारा क्या करे? सिर ढके—लाल रंग की चुनरी सी सिर पर ओढ़े—तो कहीं जाना हो नहीं सकता। यूँ ही एक बार फ़्रान्स की एक गाड़ी में सिर ढके बैठे देख एक टिकट-चैकर ने मुझे कह दिया था कि आप चाहें तो स्त्रियों के विशेष डिब्बे में जा सकते हैं!

अपनी उस घुटी चाँद को लेकर मेरे सामने एक और समस्या थी। रात को सिर ढक कर और मुँह खुला रखकर सोते बनता ही न था। सिर ढकता तो मुँह भी ढक जाता और मुँह खुला रखता तो सिर भी खुला रह जाता।

भगवान् बुद्ध 'सर्वज्ञ' थे, उन्हें इंगलैण्ड जानेवाले भिक्षु के लिए एक 'टोपी' की भी अनुज्ञा अवश्य देनी चाहिए थी। मैंने समझा कि भगवान् बुद्ध ने यह काम मेरी अपनी बुद्धि के लिए छोड़ दिया है। मैंने एक टोपी ओढ़नी स्वीकार की।

यह टोपी भी रात को ओढ़ने की आधुनिक ढंग की कोई 'टोपी' न थी! मेरे एक मित्र श्री लारोश की पत्नी ने लाल रंग का ऊनी डोरा ले, उसे सीधा-सादा बुन दिया था।

श्री लारोश और डारोथी की याद भी ज्यों की त्यों बनी है। सामाजिक मर्यादाओं को एकदम अस्वीकार करने वाले लोग भी भीतर से कैसे सहृदय, सच्चे और चरित्रवान होते हैं—ये दोनों उसके उदाहरण थे।

श्री लारोश सड़क पर भीख माँगनेवाले थे—एकदम भिखमंगे। कुमारी डारोथी उन्हें अपने साथ ले आयीं। दोनों साथ-साथ रहने लगे। कुमारी डारोथी का काम था कमाना और पढ़ना-लिखना। श्री लारोश का काम था खाना और पढ़ना-लिखना। दोनों की न कमाई अधिक न ख़र्च अधिक।

इंगलैण्ड के क़ानून के अनुसार कुमारी डारोथी की नौकरी छूट सकती थी, यदि वह अपने को 'पत्नी' घोषित कर देती। इस आर्थिक कारण से लारोश और डारोथी पति-पत्नी न थे।

एक दिन लारोश ने मुझसे कहा—"भन्ते! यदि लोग हमें 'ब्रह्मचारी' समझते हैं, तो इसमें हम दोनों का क्या क़सूर है?"

श्री लारोश और डारोथी दोनों भारतीय विचारों की जानकारी ही नहीं रखते थे बल्कि उनके भक्त भी थे। बौद्ध ग्रन्थों की तो उनको अच्छी जानकारी थी। बौद्ध बैठकों में पढ़े गये उनके अनेक निबंधों की याद अभी भी ताज़ा है—ऐसी ही संस्कृत, मधुर भाषा में लिखे रहते थे वे।

श्री लारोश मुझे सप्ताह में एक बार लन्दन से बाहर किसी पार्क में घुमाने को ले जाते थे—नियमपूर्वक, प्रति सप्ताह और अपने टिकट ख़रीद कर। उनका साथ एक दार्शनिक का साथ होता—एक विचारवान् का, एक तत्ववेत्ता का।

इंगलैण्ड से लौटकर मैंने जो अपने अनेक परिचितों के पत्रों को नष्ट कर डाला, उनमें श्री लारोश और डारोथी के पत्रों को नष्ट कर डालना मुझे कभी-कभी अपनी बड़ी ग़लती मालूम देती है। उन पत्रों में एक 'भिक्षु' के लिए भी बौद्ध-धर्म सम्बन्धी नयी चीज़ रहती थी। किन्तु चाहकर भी कोई कब किसी चीज़ को सदैव बनाये रख सका है! लारोश और डारोथी के पत्र भी इस नियम का अपवाद कैसे होते?

हाँ, तो डारोथी की बनायी वह 'लाल टोपी' मैंने स्वीकार कर ली। रात को सोते समय ओढ़ लेता और कभी-कभी बाहर जाते समय भी।

१६३४ में जब मैं इंगलैण्ड से सिंहल वापस लौटा तो उस दिन बड़ा कोहरा पड़ रहा था। इंगलैण्ड में कोहरा पड़ता है तो स्वयं-सेवकों को मोटर के सामने टार्च और लैम्प लेकर रास्ता दिखाना पड़ता है। वैसा ही असाधारण कोहरा था। उस दिन मैंने टैक्सी में बैठते समय भी चाँद-सी घुटी 'चाँद' की, चाँद-सी सफ़ेद बर्फ़ से रक्षा करने के लिए वह 'लाल टोपी' सिर पर ओढ़ ली।

स्टेशन पर आकर रेल के डिब्बे में बैठ गया। मित्र-मंडली स्टेशन पर पहुँचाने आयी थी। कुछ उत्सुक पत्रकार भी। पत्रकारों के लिए मेरे लाल-पीले कपड़ों का—लन्दन से लौटने वाले एक भिक्षु का—कुछ समाचार-मूल्य था ही। एक पत्रकार ने अपना कैमरा खोलकर मुझ पर निशाना लगाना चाहा।

जब तक उसका क्लिक दबे न दबे, मेरी आँखों के सामने सारा भविष्य घूम गया—यह पत्रकार यह फ़ोटो लेगा! किसी न किसी पत्र में मेरी तसवीर छपेगी! संभव है यह मेरा मूल-फ़ोटो ही सिंहल भेज दे! वहाँ वाले इसे छापेंगे! इसमें वहाँ मैं सिर पर टोपी लगाये बैठा हूँ! वहाँ फ़ोटो छपने पर मेरी अप्रिय आलोचना होगी!

तुरन्त ख़याल आया कि मैं इसे जल्दी से उतार क्यों न लूँ। किन्तु न जाने चरित्र की किस भाग्यवती रेखा ने मुझे उस दिन अपने सिर से वह 'लाल टोपी' न उतारने दी। हम जो कुछ भला-बुरा करते हैं, वह सब ही प्रकट रूप से करें, यह तो कहाँ होगा और कदाचित् इसकी अपेक्षा

भी नहीं है—किन्तु जो कुछ प्रकट रूप से करते हैं उसे भी छिपाते फिरें तब तो चरित्र के खड़े रहने के लिए कोई जगह ही नहीं रह जाती।

लाल टोपी सिर पर रहने देने का वही परिणाम हुआ जिसकी मैंने कल्पना की थी।

१८ दिन बाद जब मैं लंका में उतरा तो उस 'डेली न्यूज़' के मुख पृष्ठ पर मैं बंदर की-सी शक्ल में बृहदाकार में बैठा था—वही लाल बन्दर-टोपी ओढ़े।

और दूसरे दिन अखबार में छपा था—संपादक के नाम पत्र, जिसमें मेरे इंगलैण्ड में रहते समय वह टोपी पहन लेने की आलोचना थी।

और दूसरे ही दिन मेरे गुरुजी ने बुलाया और पूछा—"आनन्द, इस पत्र के छपने से कुछ मन मैला तो नहीं हुआ? इसका उत्तर देने का विचार तो नहीं कर रहे हो?"

मैं चुप था।

"नहीं, इसका उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं।"

मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

तीसरे दिन मैंने देखा, मेरे एक मित्र ने—डा० अधिकारम् ने—उस पत्र का उत्तर दे दिया है। वे इंगलैण्ड में मेरे पास और साथ रहे थे और अपनी धार्मिक कट्टरता के लिए प्रसिद्ध थे।

और तीसरे ही दिन अपनी उपस्थिति में ही मैंने एक महास्थविर को गुरुदेव से शिकायत करते पाया—"आपके शिष्य की अखबार में आलोचना हुई है।"

"हाँ, किसी के मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि उसकी बीच-बीच में आलोचना भी होती रहे, केवल प्रशंसा ही प्रशंसा होते रहने से आदमी का मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।"

मैंने मन ही मन कहा—"धन्य गुरुदेव!"

आज उनकी स्मृति को नमस्कार है!

सरस्वती पूजा

कुछ लोग सफ़र काटने के लिए ताश खेलते हैं और कुछ पढ़ते हैं। पढ़ने वाले अपने आप को ताश खेलने वालों से अच्छा समझते हैं। मैं दोनों में कोई विशेष भेद नहीं कर पाता।

उस दिन अपने अनन्त अज्ञान में कुछ कमी करने के लिए ही मैं हिन्दी की एक पत्रिका पढ़ रहा था। 'अन्धों की शिक्षा' के बारे में कोई लेख था। पास बैठे एक भाई को या तो कोई काम न था या शायद उन्हें एक पढ़े-लिखे साधु को देख अपनी जिज्ञासा मिटाने की सूझी, बोले—

"स्वामी जी! एक प्रश्न कर सकता हूँ?"

"मेरा पढ़ना समाप्त होने पर।"

लेख पढ़ने के मोह में उस भाई को थोड़ा शुष्क उत्तर दे दिया था। स्वयं अच्छा न लगा। लेख समाप्त होते ही प्रायश्चित्त-स्वरूप बोला—

"कहिए क्या आज्ञा है?"

"मैं जानना चाहता हूँ कि भगवान साकार है अथवा निराकार?"

धर्म-चर्चा का पिटा-पिटाया प्रश्न—'मैं न साकार भगवान का पुजारी हूँ और न निराकार का।' उत्तर दिया—"भाई कुछ लोगों ने पहले एक

साकार भगवान की कल्पना की, जनता ने कहा कि हमें दिखाओ, तब वे लोग बोले कि भगवान निराकार है। इस प्रकार भगवान की स्थापना भी हो गयी और उसके दर्शन कराने से भी छुट्टी मिल गयी।"

यदि किसी बालक ने बचपन से कभी ईश्वर का नाम न सुना हो और आप उसे किसी साकार ईश्वर की कल्पना कराना चाहें तो उसके मन में अच्छा-बुरा कुछ न कुछ चित्र बन ही जायगा। किन्तु यदि आप उसे किसी निराकार ईश्वर की कल्पना कराना चाहें तो वह क्या खाक समझेगा?

सिंहल में मैंने एक बार कुछ बौद्ध विद्यार्थियों को ईश्वर की कल्पना करानी चाही, वे चार मुँह वाले ब्रह्मा को समझ सकते थे, शेषनाग की शैया पर शयन करने वाले विष्णु को समझ सकते थे और साँपों की माला गले में डाले रहने वाले शिवजी को भी समझ सकते थे किन्तु किसी निराकार ईश्वर को एकदम नहीं।

मैं उन्हें गोसाईं तुलसीदास जी के उस ईश्वर का दर्शन कराना चाहता था, जिसके 'पाँव' नहीं हैं किन्तु जो चलता है, जिसके 'कान' नहीं हैं किन्तु जो सुनता है, जिसके 'हाथ' नहीं हैं और जो नाना प्रकार के कर्म करता है।"*

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं उन्हें निराकार ईश्वर की कुछ भी कल्पना न करा सका। अधिक ज़ोर देकर समझाने पर वे विद्यार्थी केवल हँस दिये।

बनारस संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल डाक्टर मंगलदेव शास्त्री का एक उपयोगी निबन्ध है—'ईश्वर शब्द का इतिहास' जिसमें उन्होंने बताया है कि ईश्वर शब्द से जो कुछ हम आज ग्रहण करते हैं, उस शब्द को उस अर्थ का वाची होने में पर्याप्त समय लगा। ईश्वर शब्द को अपने आज के 'सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, सर्वान्तर्यामी......' अर्थ का बोधक बनने में कदाचित कई शताब्दियाँ लग गयीं। जो हो, मानव ने जैसे अपनी स्थूल कल्पना से एक दिन ब्रह्मा की रचना की थी, उसी प्रकार उसने अपनी सूक्ष्म कल्पना से 'ब्रह्म' की भी रचना कर ही ली।

---

* पग बिन चलै सुनै बिन काना!
कर बिन करम करै विधि नाना!!

मैं इसे समाज का बड़ा सौभाग्य समझता हूँ कि सारे के सारे देवता साकार से निराकार नहीं बन गये। यदि कहीं ऐसा हुआ होता तो न जाने साहित्य और कला की कितनी अपार हानि हुई होती। लोग अनेक ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन चरित्र लिखते हैं, किन्तु ऐतिहासिक पुरुषों से भी अधिक जो देवी-देवता अनेक लोगों के जीवन में बसे हुए हैं, उनके भी जीवन चरित्र लिखने की बड़ी आवश्यकता है। आदमियों की तरह ही देवता-गण भी पैदा होते और मरते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आयु आदमियों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। कोई-कोई देवता तो सैकड़ों वर्ष तक जीते रहते हैं।

आज वैदिक युग के कितने देवता जीवित हैं? समाज के मानस ने उनकी मिट्टी से न जाने कितने नये देवताओं का निर्माण कर लिया है।

लगभग चार वर्ष हुए बम्बई के 'प्रिंस आफ़ वेल्स म्युज़ियम' के डाक्टर मोतीचन्द्र ने श्री लक्ष्मी जी का एक विद्वत्ता पूर्ण जीवन चरित्र लिखा था। वैसा ही जीवन चरित्र वे ही अथवा कोई दूसरे अधिकारी विद्वान सरस्वती का भी लिख देते।

सरस्वती का जीवन चरित्र कितना ही अज्ञात अथवा अल्प ज्ञात हो, उसका स्वरूप सचमुच सभी देवी-देवताओं की अपेक्षा अधिक मुग्धकारी है। गांधी जी की आश्रम भजनावली तक में उस स्वरूप की स्तुति को स्थान दिया गया है—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला, या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा, या श्वेतपद्मासना
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृभिर्देवै, सदा वंदिता
सा मां पातु सरस्वती, भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥*

* जिसके गले में कुमद, इन्दु अथवा तुषार की तरह श्वेत हार शोभायमान है, जो शुभ्रवस्त्रों से आच्छादित है, जिसके हाथ में वीणा है, जो श्वेतासन पर विराजमान है, जिसकी ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवता सदा वन्दना करते हैं वह अशेष जड़ता को दूर करने वाली भगवती देवी मेरी रक्षा करें।

बसंत पंचमी के दिन जैसी वाणी-चर्चा बंगाल में होती है वैसी शायद ही किसी और प्रांत में होती हो। पंजाब का बसंतोत्सव तो पीली सरसों, पीली पगड़ियों और रंग-बिरंगे पतंगों का संयोग मात्र होता है। धूम्राच्छन्न, बड़े-बड़े मकानों वाले कलकत्ते में, खुले खेतों में पतंग उड़ाने जैसी मौज कहाँ? लेकिन कलकत्ते की वाणी चर्चा भी अपनी विशेषता रखती है। यहाँ भगवती सरस्वती की साहित्य, संगीत और कला से त्रिविध पूजा होती है।

बंगाल की सरस्वती पूजा से बहुत कुछ मिलता-जुलता महाराष्ट्र का गणेशोत्सव है। जिस प्रकार यहाँ कुछ दिनों की लगातार पूजा के अनन्तर सरस्वती की एक से एक बढ़कर सुन्दर मूर्तियों को गंगा-लाभ करा दिया जाता है, उसी प्रकार महाराष्ट्र में भी कई दिन की लगातार पूजा के बाद असंख्य गणेश मूर्तियों को जल समाधि दे दी जाती है।

उस दिन खड़ा-खड़ा मैं इन असंख्य सरस्वती की मूर्तियों के गंगा-लाभ तथा उसी प्रकार असंख्य गणेश मूर्तियों की जल समाधि के अर्थशास्त्र पर विचार कर रहा था। अर्थ का इतना अपव्यय!

उसी क्षण मैंने पास की गली में कुल जमा चार बच्चों का एक जलूस जाता देखा। उनमें से एक राइट-लेफ़्ट करता हुआ आगे जा रहा था, दूसरे के हाथ में मूर्ति थी। शेष दो पीछे-पीछे साथ थे। चारों एक से एक अधिक प्रसन्न! छूत की बीमारी की तरह उनकी प्रसन्नता जैसे मुझे भी छू गयी। मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया, यह देखने के लिए कि यह मंडली कहाँ जाती है और क्या करती है? चारों बच्चे सामने के तालाब के किनारे पहुँचे, थोड़ी देर खड़े रहे, प्रसन्न-वदन, फिर उनमें से दो ने सरस्वती को पकड़कर झुलाया और पानी में फेंक दिया। उनमें से कोई अकेला कदाचित उसे जल में थोड़ी दूर भी न फेंक सकता था। मूर्ति विसर्जित हो गयी तो चारों ने आनन्द विभोर होकर तालियाँ पीटीं और अपने-अपने घर की ओर चले गये।

मैं उनके आनन्द के उद्गम स्थान को समझने की चेष्टा करने लगा,

उस समय मुझे इक़बाल का एक शेर याद आया, जिसका आशय है—

"मैं अपने सारे आत्म चरित्र को एक पंक्ति में लिख सकता हूँ। मैंने मूर्तियों का निर्माण किया, उनकी पूजा की और उन्हें तोड़ डाला!"

हम में से अधिकांश लोग भौतिक अथवा काल्पनिक मूर्तियों का निर्माण करते है, उनकी पूजा करते हैं, किन्तु समय पर उन्हें तोड़ नहीं सकते।

जिसे किसी भी प्रकार की मूर्तियों की सच्ची पूजा करनी हो उसे मूर्तियों का निर्माण ही नहीं, उन्हें तोड़ना भी आना चाहिए।

विकासोन्मुख मानव के लिए बुत-परस्ती (मूर्ति-पूजक) ही होना पर्याप्त नहीं है, उसे बुत-शिकन (मूर्ति-भंजक) भी होना चाहिए।

मृत्यु दर्शन

★

अनादि काल से जो प्रश्न आज तक अनुत्तरित चले आ रहे हैं, उनमें से एक है--मृत्यु क्या है ? पाली वाङ्मय में मृत्यु का वर्णन बड़े ही यथार्थवादी ढंग से किया गया है :

'भिक्षुओ ! मरना किसे कहते हैं ? यह जो जिस किसी प्राणी का, जिस किसी योनि से गिर पड़ना, पतित होना है, पृथक् होना है, अन्तर्धान होना है मृत्यु को प्राप्त होना है, काल कर जाना है, स्कन्धों का अलहदा हो जाना है, शरीर का फेंक दिया जाना है—इसे ही भिक्षुओ ! मरना कहते हैं ।'

यही मृत्यु की सहज स्वाभाविक घटना किसी के लिए पाँच तत्वों का पाँच तत्वों में मिल जाना है, किसी के लिए एक आत्मा का एक शरीर त्याग कर दूसरे में प्रवेश कर जाना है, तथा किसी के लिए रूह का जिस्म को छोड़कर अपने अच्छे-बुरे कर्मों के फल की प्रतीक्षा में अनंत काल तक पड़े रहना है।

यह बड़ी ही अनोखी बात है कि प्रत्येक प्राणी को मौत से डर लगता है। धम्मपद की एक गाथा है—

सब्बे तसंति दंडस्स, सब्बे भायंति मच्चुनो
अत्तानं उपमंकत्वा न हनेय्य न घातये ।

—सभी को दंड से डर लगता है, सभी को मृत्यु का भय है, सभी को अपने समान मानकर, मनुष्य को चाहिए कि न किसी का हनन करे और न घात करे।

सृष्टि क्रम के अनुसार जन्म पहले और मृत्यु बाद में होती है। सभी प्राणी मृत्यु से डरते तो हैं ही, किन्तु क्यों डरते हैं? जिस बात का मनुष्य को अनुभव ही नहीं, उससे डरना कैसा? दूसरों का अनुभव तो दूसरों का ही अनुभव होता है। वह किसी के भी भय की पर्याप्त व्याख्या नहीं है। फिर जिसे मृत्यु का यथार्थ अनुभव हुआ हो, ऐसे किसी एक भी प्राणी ने तो आज तक उसका लेखा-जोखा नहीं दिया। तब कोई भी मृत्यु से क्यों डरे? दूसरों को मरते देखकर, दफ़नाये जाते देखकर, अथवा उनका अग्नि-संस्कार होते देखकर आदमी के लिए अस्वाभाविक नहीं है कि वह मृत्यु को, दफ़नाये जाने अथवा अग्नि संस्कार किये जाने जैसी क्रियाओं की पूर्व क्रिया मान, उससे भय माने। किन्तु मरने से पहले प्राणी प्रायः बेहोश हो जाता है। बेहोश प्राणी को मृत्यु की अनुभूति होती ही नहीं होगी; और जो मर ही गया, उसे चाहे दफ़नाओ चाहे जलाओ, सब बराबर है। इस दृष्टि से देखने से भी आदमी के मृत्यु-भय की संतोष-जनक व्याख्या नहीं हो पाती। अज्ञात का भय, मृत्यु-भय की तीसरी व्याख्या माना जा सकता है। कोई भी अनुभव जिससे हम परिचित हों, उतना भयानक नहीं होता जितना कि कोई भी अज्ञात अपरिचित अनुभव। किन्तु, जो अज्ञात है जिसका परिचय ही नहीं, उससे भी आदमी आखिर क्यों डरे? गुरु नानक देव ने कहा है—

जिस मरने ते जग डरे, मेरे मन आनंद,
मरने ही ते पाइए, पूरन परमानंद।

कौन कह सकता है कि मनुष्य ने जीवन की जिस अंतिम अनुभूति को ख़ामख़ाह भयानक मान रखा है, वह असीम आनन्द-दायक ही हो।

मृत्यु-भय की एक चौथी व्याख्या भी हुई है। मानव-शास्त्र की दृष्टि से वह कुछ अधिक उपयुक्त जँचती है। प्राणी जो जन्म ग्रहण करता है, न उसका वह जन्म ही उस प्राणी की प्रथम अनुभूति है, और प्राणी का जो

मरण होता है, न वह मरण ही उस प्राणी की प्रथम अनुभूति है। जन्म तथा मरण दोनों ही प्राणी की अनंत अनुभूतियों की शृंखला की दो सामान्य अनुभूतियाँ मात्र हैं। दोनों दुखद हैं, इसलिए प्राणी दोनों को दुखद मानता ही है। जन्म हो चुकने के बाद जन्म से डरने का तो कुछ अर्थ रह नहीं जाता मृत्यु-भय ही शेष रहता है, जिससे प्राणी जन्म भर ग्रसित रहता है।

आदमी 'जीवन' हो 'जीवन' का मंत्र रटता रहे तो भी उसका काम नहीं चलता, और आदमी मृत्यु की ही भावना करता रहे, तो भी कदाचित् मानव के लिए श्रेयस्कर न होगा। इसीलिए अनुभव शास्त्रियों का कथन है—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थंच चिंतयेत्
गृहीत इवकेशेषु मृत्युनां धर्मांचरेत् ॥

—बुद्धिमान आदमी को चाहिए अपने आपको अजर-अमर मानकर विद्या तथा अर्थ की चिन्ता करे और अपनी चोटी मृत्यु के हाथ में ही मानकर धर्म की चिन्ता करे।

यूँ तो व्यक्ति प्रतिक्षण जन्मता और मरता रहता है और जो स्वयं जन्मता और मरता रहता है, वह अपने को अपने ही जन्म और मरण का तटस्थ साक्षी मान कर उन दोनों में से किसी एक का भी दर्शन कर सके—यह उसके लिए सहज नहीं। किन्तु जन्म और मरण का जो रूढ़ अर्थ है, उसका चिंतन भी आदमी के जीवन की विशिष्ट घड़ियों का ही विषय बनता है। यह सब ऐसा ही होने पर भी कभी-कभी कोई घटना आदमी के मन को पूरी तीव्रता के साथ अपनी ओर आकर्षित कर लेती है और वह उसके चिन्तन तथा चर्चा का विषय बन ही जाती है।

अपनी मृत्यु की निकट संभावना की याद दिलाने वाली दो घटनाओं की स्मृति को एक ताज़ी घटना ने जैसे पूरे आवेश के साथ याद कर लिया है—

१६२८-२६ में मैं सिंहल के प्रसिद्ध प्राच्य विद्यालय 'विद्यालंकार परिवेण' में रहता था। वहाँ आस-पास संध्याकालीन सैर के लिए कोई अच्छी जगह न थी। दोनों ओर दो सड़कें थीं, एक पर बसें दौड़ती रहतीं और दूसरी पर

रेल। राहुल जी के साथ मैंने भी दैनिक सैर के लिए रेल की पटरी वाली सड़क को ही चुना। सायंकाल कभी ५ बजे से ६ तक और कभी ६ से ७ तक। ऋतु के हिसाब से हम दोनों की साथ-साथ नियमित सैर होती।

एक दिन राहुल जी सैर को साथ नहीं आये। मैं अकेला ही निकला। उस रेल की सड़क पर दो लाइनें साथ-साथ थीं। हम किसी एक लाइन पर चलते रहते और रेलगाड़ी सामने से आ जाती तो दूसरी लाइन पर चले जाते; और जब तक दूसरी लाइन पर भी रेल न आती तब तक उसी पर चलते रहते। रेल आने पर फिर पलट कर अपनी पहली लाइन पर आ जाते। जिस दिन मैं अकेला ही सैर को निकला, उस दिन भी और दिनों की तरह सामने से रेलगाड़ी आ गयी। मैं पलट कर दूसरी लाइन पर हो गया। दो मिनट भी बीतने न पाये थे कि मुझे पीछे से ज़ोर-ज़ोर की सीटी की आवाज़ सुनायी देने लगी। मैंने समझा कि यह उसी रेलगाड़ी के इंजन की सीटी है, जिसे मैंने अभी-अभी रास्ता दिया है। मेरे आगे कोई गाड़ी न थी। मुझे यह ध्यान न आया कि ठीक इसी समय पीछे से भी कोई गाड़ी आ सकती है। मैं अपने विश्वास और अपनी धुन में मस्त, पीछे की ओर देखता ही न था। सीटी की लगातार करख़्त आवाज़ ने आखिर पीछे देखने पर मजबूर किया। देखता क्या हूँ कि पूरी रेलगाड़ी को अपने पीछे लिये आने वाला इंजन मुझसे केवल चंद-गज़ की दूरी पर ही है। मैं धड़ाम से कूद कर रेल की पटरी छोड़ पगडंडी पर आ रहा। देखा, इंजन के ड्राइवर का हाथ अभी भी सीटी पर था और वह मेरी ओर घूर रहा था। वह पूरे ज़ोर से सीटी बजा रहा था और आश्चर्य से घबरा रहा होगा कि ऐसा कौन बहरा है, जिसे इंजन की इतनी ज़ोर की चिल्लाहट भी सुनायी नहीं देती।

सिंहल के बच्चों ने रेल के इंजन की परिभाषा की है—

वतुर बोबी अंगुरु कका।
कोलब दुवन यकड यका॥

—पानी पी-पी कर और अंगार खा-खा कर कोलम्बो तक दौड़ने वाला

लोहे का राक्षस !

उस दिन मैं उस लोहे के राक्षस की बलि चढ़ ही गया था। एकाध मिनट का ही और विलंब पर्याप्त था। इतना बाल-बाल बचा कि उसकी स्मृति से इस समय भी रोमांच-सा हो आता है।

अबौद्ध समाज होता तो लोग कहते कि ईश्वर ने बचा लिया। निर्मम जिज्ञासा है कि बचाने वाला तो ईश्वर और उस लोहे के राक्षस की बलि बनाने वाला कौन ?

विहार में वापस लौटा तो गुरुदेव का उपदेश सुनने को मिला कि आते-जाते, चलते-फिरते सर्वदा सावधान रहना चाहिए। और कुछ दिन के लिए उस रेलवाली सड़क पर, सैर के लिए मेरे जाने पर प्रतिबंध लग गया।

बहुत दिन तक मज़ाक़ चलता रहा कि सिंहल के पत्र एक समाचार से वंचित रह गये।

दूसरी घटना या दुर्घटना सन् '३४ के अन्तिम महीने की है। सन् '३२ में मैं इंगलैण्ड गया था। सन् '३४ में वापस कोलम्बो लौटकर पीनांग चला आया। पीनांग से बैंगकाक। बैंगकाक में पंडित विश्वबन्धु शास्त्री मिल गये। दोनों लगभग एक महीना साथ ही रहे। भारत लौटने का समय आया तो शास्त्री जी ने प्रस्ताव किया कि हवाई जहाज़ से चला जाय। मैंने कहा, मेरे पास जो कुछ है, उसे अपने पास के पैसों से मिलाकर देख लें, हवाई-जहाज़ का टिकट लिया जा सकता हो तो चलें। टिकट लेना संभव था। बैंगकाक के भारतीय मित्रों को हवाई जहाज़ से जाने की बात कह दी। भारतीय मित्रों की उदारता ने हमारा कुछ भी खर्च नहीं होने दिया। हम बैंगकाक से रंगून तक हवाई जहाज़ में आना चाहते थे। उन्होंने हम दोनों को दो टिकट ले दिये। हम दोनों के लिए ही हवाई जहाज़ की यात्रा करने का वह प्रथम अवसर था।

अब न दिन याद है, न महीना। हाँ, सन् '३४ भर याद है। सन् '३४

के किसी एक अपराह्न में हम बैंगकाक से रंगून पहुँचे । हमारा हवाई जहाज़ हमें रंगून में उतार कर आगे चला गया ।

दूसरे या तीसरे दिन समाचार-पत्रों में पढ़ा कि जिस हवाई जहाज़ से हमने बैंगकाक से रंगून तक यात्रा की थी, रंगून से आगे जाने पर उस हवाई जहाज़ पर बिजली गिर पड़ी और जहाज़ के परखचे उड़ गये ।

हमने अपने भाग्य को सराहा कि हम रंगून में उतर गये थे । जिन मित्रों ने इस दुर्घटना का समाचार पढ़ा और जिन्हें मालूम हुआ कि यदि हम भी उस दुर्घटना के शिकार हो गये होते, उन सभी ने ईश्वर को धन्यवाद दिया ।

जब हमें घटना विशेष का कोई कारण समझ में न आये तो अपने अज्ञान पर पर्दा डाले रहने के लिए 'ईश्वर' को ही उस का कारण माने रहने में कोई हर्ज नहीं, इसलिए मैं भी 'ईश्वर' को आत्मरक्षा का कारण मान लेता हूँ । शास्त्री जी और मैं—हम दोनों—ईश्वर की कृपा से बच गये । किन्तु वही निर्मम जिज्ञासा फिर सामने आकर खड़ी हो गयी कि हमें तो ईश्वर ने बचा लिया और जो क्षणभर में मृत्यु के ग्रास बन गये, उन्हें विनाश के गर्त में धकेलने वाला कौन था ?

बचाने वाला भी ईश्वर ? धकेलने वाला भी ईश्वर ? इसी विरोध से बचने के लिए ही तो कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर को आदमी के कर्मों ही का फलप्रदाता स्वीकार किया है और दूसरों ने ईश्वर के अस्तित्व की स्वीकृति से कोई यथार्थ प्रयोजन सिद्ध न होता देख, 'कर्म' मात्र को ही स्वीकार किया है ।

तीसरी घटना अथवा दुर्घटना अभी ताज़ी ही है, जो घटने वाली थी, घट सकती थी किन्तु घटी नहीं ।

मध्यभारत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के इन्दौर उत्सव से वापस लौटते समय श्री मोहनलाल भट्ट, श्री रामेश्वर दयाल दुबे, श्री दीनदयाल दिनेश और मैं साथ-साथ थे । इन्दौर से उज्जैन और वहाँ से वापस मऊ चले आये थे । मऊ के राष्ट्रभाषा प्रेमियों ने खंडवा तक चार सैकिन्ड क्लास के टिकट ले दिये थे । रात की यात्रा होने से उनकी वह दया सधन्यवाद स्वीकार कर ली गयी ।

मऊ से गाड़ी चली । बहुत दूर नहीं ही आयी होगी । रास्ते में

पातालपानी नाम का एक स्टेशन है। वहाँ पहुँच कर गाड़ी रुक गयी। जब कुछ गड़बड़ी मालूम हुई तो नीचे उतर कर कारण का पता लगाया गया। मालूम हुआ कि पाइंटमैन की ग़लती से रेल मुख्य-लाइन को छोड़ कर स्टेशन के एक ओर बने टुकड़े पर दौड़ गयी थी। इंजन कच्ची में धँसता चला गया। आगे बालू का ढेर था। कोई पचास फ़ुट जाकर उसमें जा फँसा। वहाँ न रुकता तो आगे 'पाताल-पानी' ही था—अर्थात् दो ढाई सौ फ़ुट नीचा प्रपात! रेल के दोनों इंजन अपने साथ रेल के सभी डिब्बों को इसी प्रपात में लिये जा रहे थे।

एक इंजन को वहीं छोड़, दूसरे की सहायता से चार-पाँच घण्टे में एक-एक डिब्बा करके गाड़ी के सभी डिब्बों को पीछे खींचा गया और रात को एक बजे खंडवा पहुँचने वाली गाड़ी प्रातः काल पाँच बजे के बाद खंडवा पहुँची।

जब इस अघटित दुर्घटना के घटित रूप का पूरा-पूरा चित्र मानस के सामने आया तो एक बार सभी के रोंगटे खड़े हो गये।

घटना घटी नहीं थी, इसलिए हम परस्पर मज़ाक़ कर रहे थे—

"हम लोग स्वर्ग में भी राष्ट्रभाषा का प्रचार करने से बाज़ न आते।"

घुमक्कड़ शास्त्र में राहुल जी ने लिखा है—

"बिना अपने कलेवर को आगे बढ़ाये, अपने जीवित समय में विश्व को कुछ देना, फिर सदा के लिए शून्य में विलीन हो जाना, यह कल्पना कितनों के लिए अनाकर्षक मालूम होगी, किन्तु कितने ही ऐसे भी विचारशील हो सकते हैं, जो अपना काम करने के बाद बालू के पद-चिन्ह की भान्ति विलीन हो जाने के विचार से भयभीत नहीं बल्कि प्रसन्न होंगे।

संसार का श्रीगणेश

★

मनुस्मृति के आरम्भ में संसार की उत्पत्ति इस प्रकार कही गयी है, जो प्राय: सभी वैदिकों को मान्य है—

"यह सारा संसार पहले तम-प्रकृति में लीन था, इससे यह दिखलायी नहीं देता था—सर्वत्र गाढ़ निद्रा की-सी अवस्था थी। तब अव्यक्त (अगोचर) स्वयंभू भगवान अंधकार का नाश कर पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु) को प्रकट करते हुए स्वयं व्यक्त हुए...। अनेक प्रकार के जीवों की सृष्टि की इच्छा से उस परमात्मा ने ध्यान करके सर्वप्रथम अपने शरीर से जल उत्पन्न किया और उसमें (शक्ति-रूप) बीज डाला। वह बीज सूर्य के समान चमकने वाला सोने का-सा अण्डा बन गया......उस अण्डे में वह ब्रह्मा एक वर्ष तक रहा। तब उसने आप ही अपने ध्यान से उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले। ब्रह्मा ने उन दो टुकड़ों से स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया। मध्य में आकाश, आठों दिशाएँ और जल का शाश्वत स्थान (समुद्र) निर्माण किया। फिर आत्मा से मन और मन से अहंकार तत्व को प्रकट किया। साथ ही तीनों गुण (सत्व, रज, तम) और विषयों को ग्रहण करने वाली पाँचों इन्द्रियों को क्रमशः

उत्पन्न किया।......(उस ईश्वर ने) सृष्टि के आरम्भ में वेद के शब्दों से सबके अलग-अलग नाम और कर्म नियत कर दिये और उनकी अलग-अलग संस्थाएँ बना दीं। सनातन ब्रह्मा ने यज्ञ-सिद्धि के लिए, अग्नि, वायु और सूर्य से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद—इन तीनों को प्रकट किया। फिर समय-समय के लिए त्रिभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र और पहाड़ बनाये।"

हिरण्यगर्भ ने अपने शरीर के दो भाग किये और आधे से पुरुष और आधे से स्त्री बन गया। उस स्त्री में उसने विराट पुरुष की सृष्टि की। 'मैंने प्रजाओं की सृष्टि की इच्छा से अति दुष्कर तपस्या करके दस महर्षियों को उत्पन्न किया।...इस प्रकार मेरी आज्ञा से इन महात्माओं ने अपने तपोयोग से कर्मानुरूप स्थावर-जंगम की सृष्टि की।'

ईश्वर-निर्माण-वादियों के सृष्टि उत्पत्ति-क्रम का नमूना ऊपर दिया गया है। जैनों और बौद्धों को छोड़कर संसार के सभी प्रसिद्ध धर्म ईश्वर निर्माण-वादी हैं। आधुनिक विज्ञान एकदम ईश्वर निर्माणवादी नहीं है। उसके अनुसार सृष्टि उत्पत्ति-क्रम की कथा लम्बी है, स्पष्ट है। जहाँ चिन्त्य है वहाँ चिन्त्य है। जहाँ विश्वासनीय है वहाँ एकदम विश्वासनीय है। वैज्ञानिकों के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति-क्रम कुछ-कुछ इस प्रकार है—

"न जाने कहाँ से एक नक्षत्र दौड़ता हुआ सूर्य के पास से गुज़र जाता है। वह सूर्य से टकराता नहीं है; किन्तु वह सूर्य से इतना काफ़ी नज़दीक हो जाता है कि उसके प्रभाव से सूर्य की ऊपरी सतह बड़े भारी खिंचाव का अनुभव करती है। इस खिंचाव के परिणाम-स्वरूप सूर्य से एक बड़ा भारी अग्नि-पुंज पृथक हो जाता है। वह कहीं से भटक कर आया हुआ नक्षत्र कहीं चला जाता है। किन्तु वह अग्नि-पुंज सूर्य के गिर्द चक्कर काटता हुआ शून्य आकाश में लटकता रहता है। तब यह अग्नि-पुंज नौ हिस्सों में विभक्त हो जाता है—सबके सब सूर्य के गिर्द चक्कर काटते हुए। यह हमारी पृथ्वी उनमें से एक है।

शीघ्र ही पृथ्वी ठण्डी होना आरम्भ करती है। अग्नि-स्वरूप गैसें

रासायनिक पदार्थों में बदलने लगती हैं। सब से पहले लोहे और दूसरे धातुओं की रचना होती है और वे ही पृथ्वी के केन्द्र बिन्दु पर संग्रहीत होते हैं। तब कोपते (कार्बन) का आगमन होता है। वह धातुओं के साथ मिलकर प्रथम मिश्रित रासायनिक पदार्थों का निर्माण करता है।

जब उष्णता घट कर उबलती हुई भाप की उष्णता के दो सौ गुणे से कम रह जाती है, तो उस समय पृथ्वी के ऊपर एक ठोस तह-सी जमने लगती है। यह तह अभी भी तरल अवस्था में ही है। इस पपड़ी से ऊपर वायु है जो अनेक गैसों का समूह है। ऊष्णता और घटती है। तब उबलते हुए पानी की धारें पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी पर आ-आ कर गिरती है और अपने साथ उन रासायनिक तत्वों को लाती हैं जो पहले से वायुमंडल में बन चुके हैं। ये रासायनिक पदार्थ आरम्भिक समुद्रों में कुल मिलकर और भी मिश्रित रासायनिक पदार्थों का निर्माण करते हैं। अन्त में ख़ासतौर के रासायनिक पदार्थ प्रकट होते हैं। ये 'प्रोटिन' हैं—जीवित-तत्त्व में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण।"

वैज्ञानिक आज भी इस बात को अच्छी तरह नहीं समझते हैं कि यह कैसे हुआ, लेकिन किसी न किसी तरह यह 'प्रोटिन' आपस में मिले और दूसरे रासायनिक पदार्थों के साथ मिले, यहाँ तक कि एक बड़े लम्बे काल के बाद इस मिश्रण में से 'जीवित-पदार्थ' का निर्माण हो गया।

पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद दस अरब वर्ष यूँ ही व्यतीत हो गये। तब कहीं जाकर पृथ्वी पर प्रथम 'जीवित-तत्व' अस्तित्व में आया।

वैज्ञानिकों का मत है कि इसके बाद कुछ नहीं, तो एक पचास करोड़ वर्ष यूँ ही बीत गये, अब इस जीवित-तत्त्व ने कुछ विकसित होना आरम्भ किया। सत्रह करोड़ वर्ष तक पृथ्वी पर कुछ समुद्री-पौधे मात्र थे और कुछ ऐसे ही जीव, जिनमें रीढ़ की हड्डी नहीं थी। एक पाँच करोड़ वर्षों तक केवल एक प्रकार की मछलियाँ मात्र थीं। आठ करोड़ से अधिक वर्ष ऐसे जीवों ने लिये, जो जल और स्थल दोनों पर रह सकें जैसे मेंढक। उसके बाद बारह करोड़ से अधिक वर्ष पेट के बल रेंगने वाले जन्तुओं ने लिये जैसे सर्प

आदि। उसके बाद एक छः करोड़ वर्ष तक ऐसे प्राणी जो बाल्यावस्था में माता के स्तन का पान करते हैं। और अन्त में आदमी, जिसे अधिक से अधिक दस लाख वर्ष अस्तित्व में आये हुए होंगे। पृथ्वी की आयु के सामने मनुष्य की आयु क्या है? यह पृथ्वी-पुत्र अभी कल का बच्चा है।

यह एक प्रकार के जीवों में से दूसरी प्रकार और दूसरी प्रकार के जीवों से तीसरी प्रकार के जीव क्यों विकसित होते आये? विज्ञान के पास इसका एक ही उत्तर है—परिस्थिति ने मजबूर किया। इस मजबूरी का दूसरा नाम 'विकासवाद' है।

प्रश्न उठता है कि क्या अब मनुष्य भी विकसित होकर कोई दूसरा मनुष्येतर-प्राणी बन जायगा? जो परिवर्तन लाखों और करोड़ों वर्षों में इतने धीरे-धीरे होते हैं कि कोई उन्हें देख ही न सके, उनके बारे में क्या कहा जाय? किन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि मनुष्य ही शायद इस विकास की अन्तिम कड़ी है। आदमी से पूर्व की जितनी जीव-जातियाँ थीं वे सभी अपनी परिस्थिति के एकदम अधीन थीं। आदमी ही वह प्रथम पृथ्वी-पुत्र है, जिसमें अपनी परिस्थिति पर सवार होने की सामर्थ्य है।

आदमी में भी परिवर्तन हो रहा है—उसके जीने के ढंग में। प्रस्तर युग के प्राणी का जीवन कहाँ और आधुनिक मशीनों से घिरे हुए प्राणी का जीवन कहाँ, किन्तु यह परिवर्तन दूसरी तरह का परिवर्तन है, और यह होता ही रहेगा।

परिवर्तन न हो, यह तो हो ही नहीं सकता। अपरिवर्तनीय परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है।

आदमी चाहे तो परिवर्तन को बुराई की अपेक्षा भलाई की ओर मोड़ सकता है।

नित्य नये परिवर्तनों के अभ्यासी मानव से इतनी आशा तो की ही ानी चाहिए।

विनोबा जी का वाहन-परित्याग

प्रतिवर्ष तुलसी-जयंती के अवसर पर कहीं न कहीं जाने का निमंत्रण आता है। सौभाग्य है, उस दिन रामचरित मानस के गायक की याद ताज़ा हो जाती है।

इस वर्ष मैं चाहता था कि तुलसी-जयंती के दिन वर्धा में ही रहूँ। इसलिए मारवाड़ी समाज की प्रसिद्ध जन-सेविका श्रीमती राधादेवी गोयनका का अकोला से आया निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। दो दिन के बाद देखा कि वे अचानक अपनी गाड़ी लिये मेरे यहाँ आ पहुँचीं। उनका आग्रह था कि मैं अकोला अवश्य चलूँ। मैंने इस बार तुलसी-जयंती के दिन कहीं बाहर जाने की अनिच्छा के कारण उनसे क्षमा चाही। श्रीमती गोयनका बोलीं—

"मैं विनोबा जी के पास गयी थी। वे अध्यक्ष बनने वाले थे। उन्होंने रेल-मोटर आदि में न चढ़ने का व्रत ले लिया है। इसलिए वे नहीं जा सकेंगे। अब तो आपको विनोबा जी की जगह चलना ही होगा।"

मेरी कठिनाई थी कि तुलसी-जयन्ती के ही समय यहाँ कार्यालय में परीक्षा उपसमिति की बैठक थी। तब भी और कोई चारा न देख, मैंने अकोला जाना स्वीकार किया। तुलसी-जयन्ती का उत्सव एक दिन आगे बढ़ा दिया गया,

जिससे मैं सुविधापूर्वक अकोला जाकर वापस आ सकूँ।

वर्धा में और आसपास कानों-कान यह बात फैल गयी कि विनोबा जी ने वाहन-परित्याग कर दिया है। मित्रों में अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा आरम्भ हुई। किसी ने कहा कि इधर विनोबा जी 'सर्वोदय' की भावना को लेकर जो नये-नये प्रयोग कर रहे हैं, उनका यह निर्णय, उनकी नयी प्रवृत्ति के अनुरूप है; किसी ने कहा कि इस प्रकार समाज से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद कर देने से आखिर क्या लाभ?

विनोबा जी के वाहन-परित्याग की चर्चा समाचारपत्रों का भी विषय बनी और इस हद तक बनी कि उन्हें इस विषय में एक वक्तव्य देना पड़ा। विनोबा जी का कहना है कि उन्होंने वाहन-परित्याग का व्रत नहीं लिया है किन्तु उनकी ऐसी प्रवृत्ति अवश्य है।

आज विज्ञान-सम्मत आवागमन के साधनों ने दूरी को इतना कम कर दिया है कि यदि तीन सौ वर्ष पूर्व के भी मानव का अपनी पूर्व-स्मृति को लिये हुए आज आविर्भाव हो जाये तो वह यह देखकर कि एक-दो दिन में लोग दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे पर पहुँच जाते हैं, न जाने कितना आश्चर्य करेगा? क्या इन तीव्र-गामी यातायात के साधनों ने आदमी को एक-दूसरे के समीप ला खड़ा किया है? हाँ, अवश्य; किन्तु केवल भौतिक दृष्टि से। यदि दुनियाँ के लोगों के दिलों की बात पूछो तो ऐसा लगता है कि वह एक दूसरे से इतने दूर हैं—जितने शायद मानव-इतिहास में कभी नहीं हुए थे। विज्ञान के पास स्थान की दूरी को कम करने के साधन हैं; किन्तु न जाने दिलों की दूरी दूर करने के आवश्यक कर्तव्य की ओर विज्ञान भी कब ध्यान देगा? क्या विज्ञान इस का भी श्रेय ले सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर भविष्य के गर्भ में निहित है।

क्या यातायात के गति-प्रधान साधन हमारा समय बचाते हैं? हाँ, ऊपरी स्थूल दृष्टि से देखने से तो ऐसा ही लगता है। वायुयानों की बात हम नहीं करते। किन्तु, जब तीन-तीन महीनों और छः-छः महीनों की पैदल

यात्रा भी मेल-ट्रेन से चौबीस घंटे में सम्पन्न हो जाती है तो फिर यातायात के गति-प्रधान साधनों के समय-बचाने वाले होने में सन्देह हो ही क्या सकता है ? तो भी एक बार सिंहल में रहते समय मैंने अपनी विशेष-परिस्थिति में और अपने लिए इस मान्यता का परीक्षण करना चाहा कि यातायात के गति-प्रधान साधनों का उपयोग करने से कितना समय बचता है ? मैं कोलम्बो से कोई पाँच मील की दूरी पर विद्यालंकार परिवेण, कैलानिया (कल्याणि) में रहता था। हमारे परिवेण से स्टेशन तक का रास्ता दस मिनट का था—दस मिनट भी, यदि हम सीधे रास्ते से जायँ। नाली-नाला पार कर छोटे रास्ते से जाने में तो पाँच मिनट ही लगते थे। मैंने तय किया कि मैं रेल-गाड़ी, मोटरगाड़ी तथा बैलगाड़ी आदि किसी गाड़ी पर न चढ़ूँगा। जहाँ जाना होगा पैदल ही जाऊँगा। एक बार याद है, कोलम्बो से १३ मील की दूरी पर मैं पैदल ही व्याख्यान देने गया। मैं यूँ थोड़ी-बहुत सिंहल बोल लेता हूँ, किन्तु व्याख्यान बहुधा अंग्रेज़ी में ही देना पड़ता था।

व्याख्याता पैदल घिसटता गया, किन्तु उसके अनुवादक के लिए मोटर-गाड़ी आयी थी। मेरी जो अपनी विशेष परिस्थिति थी, उसमें मैंने देखा कि वाहनों का परित्याग कर देने से मेरा बहुत-सा समय बचने लगा। उससे पहले, जिन दिनों मैं रेल-मोटर में चढ़ता था, जब कभी कोलम्बो जाने का संकल्प मन में आता तो तुरन्त किसी भी अति-सामान्य काम के लिए स्टेशन की ओर चल देता। अब जब रेल से न जाकर पाँच मील पैदल जाने की बात थी तो किसी भी सामान्य संकल्प के कारण यूँ ही उठकर चल देना सहज न था। अब मेरा कोलम्बो जाने का कोई बहुत ही आवश्यक काम होता तभी जाता। सामान्य संकल्पों की या तो अवहेलना कर देता या कोलम्बो जाने-आने वाले किसी न किसी भाई से कहकर अपना काम करा लेता।

इसी तरह जब मैं पहले रेल या मोटर में चलता था तो कोलम्बो जाने का संकल्प मन में आते ही गाड़ी के ठीक समय की प्रतीक्षा में काम करना कठिन हो जाता। मन को कितना भी समझाता वह गमन-चित्त हो ही जाता। स्टेशन पर पहुँचते-पहुँचते कभी गाड़ी छूट जाती तो दूसरी गाड़ी के लिए

कभी-कभी घन्टा-घन्टा भी प्रतीक्षा करते रहना पड़ता। कैलानिया से कोलम्बो पैदल कुल सवा घन्टे का रास्ता! और कभी-कभी स्टेशन पर उतनी ही देर बैठे-बैठे प्रतीक्षा की जाती! यह बात इधर से जाते होती और यही हाल अनेक बार उधर से वापस आते भी। अब जब मैंने वाहनों का परित्याग कर दिया था तो मैं रेल और मोटर की परावलंबता से मुक्त था। जिस क्षण कोलम्बो के लिए चल देने का निश्चय करता, इच्छा होने पर उसी क्षण चल दे सकता था। स्टेशन पर न इधर गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ती न उधर। मेरा यह क्रम बहुत अधिक नहीं, लगभग छः महीने चला।

अपनी उस विशेष परिस्थिति में और केवल अपने लिए तो मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मैंने शीघ्रगामी वाहनों को छोड़ देने से उपयोगी कामों के लिए बहुत-सा समय बचा लिया।

श्रमण बहुत दिनों से पैदल ही यात्रा करते चले आये हैं। बौद्ध भिक्षुओं ने तो इधर वाहन-परित्याग का परित्याग कर दिया है। वह साइकिल छोड़ कर शेष सभी वाहनों का उपयोग कर लेते हैं। किन्तु जैन-मुनि तो आज भी देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक "चारिका" करते ही हैं। उनके लिए गाड़ी पर न चढ़ना 'धर्म' है। धर्म में सबसे बड़ी मुसीबत यही है कि वह 'कर्तव्य' से आरम्भ होकर 'रूढ़ि' पर समाप्त होता है। पैदल यात्रा का मतलब है ज़मीन पर पैर रहना। आकाश में उड़ने की अपेक्षा यह बहुत अच्छा है। पैदल यात्रा का मतलब है जन-जन का सम्पर्क होना। रेल के डिब्बे में बन्द पार्सल की तरह एक जगह से दूसरी जगह जाने से यह बहुत अच्छा है। किन्तु ऐसा यात्री वही हो सकता है जिसकी पीठ 'धर्म' के भार से न दबी हो। मैंने जो दो-चार मुनियों की 'चारिका' को देखा है, वह मुझे 'धर्म' के भार से इतनी अधिक दबी लगी कि मेरी दृष्टि में उसका मूल प्रयोजन ही जाता रहा।

इस अवसर पर विश्व-विख्यात नाटककार बर्नर्ड शॉ की एक बात याद आ रही है। कुछ वर्ष हुए वे भारत आये थे। उस समय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जीवित थे। उन्हें जब पता लगा कि बर्नर्ड शॉ बम्बई पहुँचे हैं तो रवि बाबू ने उन्हें स्नेह-भरा एक निमंत्रण पत्र भेजा, जिसमें लिखा कि आपका स्वागत है और विश्वास प्रकट किया कि बर्नर्ड शॉ बिना भारत देखे वापस नहीं जायेंगे। शॉ महाशय का उत्तर था—

"आप के निमंत्रण के लिए अनेक धन्यवाद। सच्ची बात यह है कि मैं 'भारत' देखने नहीं आया हूँ। मेरा जहाज़ दुनिया के गिर्द घूम रहा है। वह एक सप्ताह बम्बई में रहेगा। मैं अब इतना बूढ़ा अवश्य हो गया हूँ कि बम्बई में रेल पर चढ़ा दिये जाने को और फिर कलकत्ते में खाना खाने के लिए उतार दिये जाने को, फिर रेल पर चढ़ा दिये जाने को और फिर खाना खाने के लिए दिल्ली में उतार दिये जाने को, और फिर रेल में बिठा कर वापस बम्बई में लाकर उतार दिये जाने को 'भारत' देखना नहीं समझ सकता। मैं इस एक सप्ताह में 'भारत' देखने की अपेक्षा 'बम्बई' देखना अधिक पसन्द करूँगा।"

शॉ महाशय बम्बई ही रहे। वे 'भारत' देखने नहीं ही गये।

आज हमारे अनेक सार्वजनिक कार्यकर्ता इधर से उधर दौड़ते फिरते हैं। जो अपने गाँव की सेवा नहीं कर सकते, वे ज़िले की सेवा करने का दम भरते हैं; जो ज़िले की सेवा नहीं कर सकते, वे प्रान्त की सेवा करने का और जो प्रान्त की सेवा नहीं कर सकते, वे समस्त देश के सेवक समझे जाने में गौरव अनुभव करते हैं। सेवा-धर्म सचमुच बड़ा गहन है। उसके बारे में यूँ ही नहीं कहा गया है कि वह योगियों के लिए भी दूभर है। वह घनचक्कर की तरह एक जगह से दूसरी जगह भागने मात्र से पूरा नहीं होता। आजकल के कुछ 'सेवकों' पर तो सिंहल-देश की कहावत बड़ी ही फिट बैठती है। वह है—

"कुत्ता कोई काम भी नहीं करता, कुत्ता धीरे भी नहीं चलता।"*

परिव्राजकों के लिए दो रात एक जगह रहना वर्जित है। चरैवेति-चरैवेति हमारी संस्कृति की पुकार है। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को "चरथ भिक्खवे,

---

* बल्लाट वैडकु नैते, बल्लागे गमन हैमियकु नैते।

चारिकं" का उपदेश दिया ही है। इस सब का भावार्थ ज़मीन पर चलना है, आकाश में उड़ना नहीं। जन-सेवक बनकर जन-सम्पर्क में रहना है, व्याख्यानों द्वारा नेतागिरी करना नहीं।

माता बसंती देवी (ऐनि बिसेंट) का कहना है—

"यदि तुम अपने देश की सेवा करना चाहते हो तो पहले उसका परिचय प्राप्त करो और परिचय प्राप्त करने के लिए पैदल घूमो, घर-घर घूमो, गाँव-गाँव घूमो, नगर-नगर घूमो। तभी तुम अपने देश की कुछ सेवा कर सकोगे।"

मेरी विनम्र सम्मति में विनोबा जी की यह नयी प्रवृत्ति अनेक सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के घनचक्करी जीवन की क्रियात्मक मौन आलोचना है। काश! हम उसे समझ सकें और वह हमें कुछ सोचने पर बाध्य कर सके।

बहानेबाज़ी

मैंने बहुत चाहा कि किसी न किसी बहानेबाज़ी से काम लूँ और आज कुछ ऐसा करूँ कि आप भी सोचने लगें कि बहानेबाज़ी इसे कहते हैं, किन्तु कोई एक भी बहानेबाज़ी मेरे काम न आयी, न जाने क्यों?

बीड़ी और सिगरेट में जैसे बहुत अन्तर नहीं, आजकल के व्यापार और कालेबाज़ार में जैसे बहुत फरक़ नहीं, वैसे ही झूठ बोलने और बहानेबाज़ी में बहुत अन्तर नहीं। और दो ही चीज़ें मुझे विशेष अप्रिय हैं—एक सिगरेट पीना और दूसरे झूठ बोलना।

जैसे-जैसे जीवन के हर क्षेत्र में धातु का रुपया और काग़ज़ का नोट, दोनों चलते हैं, वैसे ही जीवन के हर क्षेत्र में बहानेबाज़ी और झूठ दोनों का ही पर्याप्त चलन है।

आप विद्यार्थी हैं। अपने साथी विद्यार्थियों से कब-कब बहानेबाज़ी से काम लेते हैं? चीज़ आपकी है, आप देना नहीं चाहते। आप बड़े मज़े में कह देते हैं—'यार, यह चीज़ मेरी नहीं। अमुक की है। मेरी होती तो मैं अवश्य दे देता। भगवान की क़सम अवश्य देता।'

एक बार किसी सामान्य विद्यार्थी ने नहीं, एक बड़े अंग्रेज़ अफ़सर ने

ऐसी ही बहानेबाज़ी करके मुँह की खायी थी। हमारे एक मित्र हैं, जिनका नाम भी मैं बता सकता हूँ किन्तु यदि कहीं उन्होंने पंक्तियाँ पढ़ लीं तो न जाने क्या कहें, इसी से नहीं बता रहा हूँ—पुरानी मूर्तियाँ, चित्र और सिक्के संग्रह करने का उन्हें बहुत शौक़ है। उन्होंने देखा कि उनके एक परिचित मित्र—जोकि एक अंग्रेज़ अफ़सर थे—के पास एक बड़ी सुन्दर मूर्ति। है सोचा, इसे किसी न किसी तरह हथियाना चाहिए। वह उस अंग्रेज़ अफ़सर के पास जा पहुँचे और एक चित्र, जिसकी उन्हें क़तई ज़रूरत नहीं थी, माँग बैठे। साहब बहादुर बोले—"क्या करूँ, आपने ऐसी चीज़ माँगी है, जो मेरी नहीं है। कोई ऐसी चीज़ माँगते जो मेरी होती और में इनकार करता तब मैं अपराधी था।" हमारे मित्र बड़ा उदास-सा चेहरा बनाकर बोले—"अच्छा, यह चित्र आपका नहीं और आप नहीं दे सकते तो वह मूर्ति तो आपकी ही है, वही दे दीजिए, वही सही।" साहब बहादुर को वह मूर्ति बहुत ही अधिक प्यारी थी, किन्तु अब इनकार करते तो कैसे। चित्र तो शायद उनका नहीं ही था, किन्तु मूर्ति के स्वामी तो वे ही थे। वह अपनी बहानेबाज़ी के चक्कर में फँस गये थे। हमारे मित्र ने अपनी चतुराई से साहब बहादुर से वह मूर्ति हथिया ली।

वह कौन सा विद्यार्थी होगा जिसने विद्यार्थी जीवन में बहानेबाज़ी से काम न लिया हो। स्कूल में 'लेट' हो गये तो बहानेबाज़ी, ग़ैर-हाज़िर हो गये तो बहानेबाज़ी, छुट्टी की ज़रूरत हुई तो बहानेबाज़ी, पाठ याद नहीं हुआ तो बहानेबाज़ी। और बहानेबाज़ियों में पेट दर्द से लेकर माँ की बीमारी तक, सब शामिल हैं।

यह न पूछ बैठिएगा कि झूठ और बहानेबाज़ी में तब अन्तर क्या है? अन्तर है, किन्तु बहुत सूक्ष्म! सीधे सरल अयथार्थ कथन का नाम झूठ है, टेढ़े-मेढ़े कलापूर्ण झूठ का नाम बहानेबाज़ी है। झूठ में यदि साहस की विशेष ज़रूरत है तो बहानेबाज़ी में चतुराई की। मूर्ख आदमी झूठ बोल सकता है किन्तु बहाना नहीं बना सकता। झूठ बोलना किसी ग्रन्थ का अनुवाद करने जैसा कुछ-कुछ सरल कार्य है किन्तु बहानेबाज़ी मौलिक रचना की तरह

कठिन। यह दूसरी बात है कि एक आदमी के लिए एक काम आसान होता है और दूसरे के लिए कोई दूसरा।

झूठ और बहानेबाज़ी, दोनों में समानरूप से पकड़े जाने का खतरा निहित है और बुद्धिमान आदमी दोनों से परहेज़ करता है।

आज के युग में आप चाहे जो कुछ हों 'बहानेबाज़ी' आपका पीछा करेगी ही। आप लेखक हैं और आपके सम्पादक मित्र आपको लेख के लिए हैरान करते हैं। आप पत्र विशेष के लिए लेख लिखना नहीं चाहते। कारण स्पष्ट है। उस पत्र में यदि लेख छपता है तो आपको उस पत्र का वह अंक, जिसमें आपका लेख छपा है, भी पाने की आशा नहीं, पुरस्कार की आशा भी नहीं। मिलता है तो कम मिलता है। बार-बार माँगने पर मिलता है। तब आप उस पत्र के लिए लेख नहीं लिखते। और उक्त कारणों में से कोई एक भी कारण प्रकट न कर, आप व्यस्त रहने का बहाना बनाकर अपने उस सम्पादक मित्र से छुट्टी पा लेते हैं।

आप सम्पादक हैं। आपके पास लेख आते हैं, ऐसे कि छापने से पहले जिनका सम्पादन आवश्यक है। यह मेहनत का काम है। कौन करे। आप लौटा देते हैं, स्थानाभाव का बहाना बनाकर। किसी विशेषज्ञ का लिखा विशेष लेख आता है। आप सम्पादक हैं तो क्या हुआ। आपकी समझ में पूरा-पूरा नहीं आता। आप लौटा देते हैं। स्थानाभाव का बहाना बनाकर। आपके पत्र में आपके परिचित मित्रों की रचनाओं के लिए कभी स्थान की कमी नहीं रहती। स्थानाभाव रहता है अपरिचितों की रचनाओं के लिए और उन लोगों की रचनाओं के लिए भी जो मात्र मसिजीवी हैं और क़लम-घिसाई की मज़दूरी पाने का आग्रह करते हैं।

लेखक और सम्पादक ही परस्पर बहानेबाज़ी की आड़ में शिकार नहीं खेलते। सभी खेलते हैं। घर में खेलते हैं। घर के बाहर खेलते हैं। बौद्ध वाङ्मय में बहानेबाज़ी की एक बड़ी रोचक कथा सुरक्षित है—

'पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व एक ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। सयाने होने पर वह बनारस में एक

प्रसिद्ध आचार्य हुए। प्रायः एक सौ राजधानियों से क्षत्रिय, ब्राह्मण आकर उनसे विद्या सीखते थे।

एक जनपद-वासी ने बोधिसत्व के पास तीनों वेद और अठारह विद्याएँ सीखीं। वह वाराणसी (बनारस) में ही रहता था। दिन में दो-तीन बार बोधिसत्व के पास आता-जाता था।

एक बार वह एक सप्ताह के बाद बोधिसत्व के पास पहुँचा, उन्होंने पूछा—"ब्राह्मण बहुत दिनों से दिखायी नहीं दिये।"

"आचार्य, मेरी ब्राह्मणी के शरीर को वायु बींधती है। सो मैं उसके लिए घी-तेल तथा अच्छे-अच्छे भोजन खोजता हूँ। उसका शरीर मोटा हो गया है। चमड़ी निखर आयी है। लेकिन वात-रोग का अन्त होता दिखायी नहीं देता। मैं उसकी सेवा में ही लगा रहता हूँ। इसलिए यहाँ आने का अवकाश नहीं मिलता।"

असल में वह ब्राह्मणी भली ब्राह्मणी न थी। कुछ काम न करके रोग का बहाना बनाकर बड़बड़ाती हुई लेट रहती।

वह ब्राह्मण उससे पूछता—"भद्रे! तुझे क्या कष्ट है?"

"मुझे वायु बींधती है।"

"तो तुझे क्या-क्या चाहिए?"

"चिकने, मीठे, अच्छे स्वादिष्ट यवागु-भात आदि।"

जो-जो वह इच्छा करती, ब्राह्मण ला-लाकर देता। उसकी तरह सब काम करता। लेकिन वह ब्राह्मण के घर आने के समय लेट रहती, बाहर चले जाने पर मौज मनाती।

बोधिसत्व ने समझ लिया कि वह इसे धोखा देकर लेटी रहती है। इसलिए उन्होंने कहा—"तात! अबसे तुम उसे दूध-घी, रस आदि मत दो। गोमूत्र में त्रिफला और पाँच प्रकार के पत्ते रखकर उनका काढ़ा बनाओ। जब औषधि तैयार हो जाय तो उसे नये बर्तन में रखकर और हाथ में रस्सी या छड़ी लेकर कहना—'भद्रे यह तेरे रोग की उचित दवाई है। या तो इसे पी, नहीं तो जैसा भोजन तू करती है उसके मुताबिक़ काम कर' और अगर न

माने तो रस्सी या छड़ी से प्रहार कर केशों को पकड़कर खींचना। खीचकर पीटना। उसी समय उठकर वह काम करने लगेगी।"

वह बोधिसत्व के कथनानुसार दवाई बनाकर ले गया। बोला "भद्रे यह औषधि पी।"

"यह औषधि तुम्हें किसने बतायी?"

"भद्रे, आचार्य ने।"

"इसे ले जाओ। नहीं पिऊँगी।"

ब्राह्मण ने कहा—"तू सचमुच स्वेच्छा से नहीं पियेगी।" वह छड़ी लेकर बोला—"या तो रोग के अनुसार दवाई पी अथवा यवागु-भात के अनुसार काम कर। तेरी वाणी और तेरे भोजन का मेल नहीं बैठता।"

ब्राह्मण ने ऐसा कहा तब ब्राह्मणी ने सोचा—अब आचार्य का ध्यान आकृष्ट हो गया। आचार्य ने मेरे कुलच्छन को पहचान लिया। अब मैं इसे धोखा नहीं दे सकती। उठकर काम करूँ।

वह उठकर काम करने लगी।'

आखिर, आदमी बहानेबाज़ी, जो झूठ का ही एक कलापूर्ण संस्करण है, क्यों करता है? अज्ञान के कारण, लोभ के कारण तथा भय के कारण।

आदमी समझता है कि बहानेबाज़ी से—काम न करके—काम करने का नाटक करने मात्र से काम चल जाता है। दूसरी ओर देखने वाला आदमी एकदम अंधा हो तो सचमुच कुछ देर के लिए काम चल भी जाता है। किन्तु काम न करने से काम तो होता ही नहीं और आगे-पीछे निकम्मे आदमी का पोल भी खुल ही जाती है। यदि आदमी को इतनी मामूली-सी बात समझ में आ जाय तो मैं समझता हूँ कि आदमी बहानेबाज़ी से मुक्त हो सकता है।

प्रकृति ने आदमी को ही जन्म नहीं दिया, उसके साथ उसकी शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को भी जन्म दिया है। यह कहना सचमुच आसान नहीं कि आदमी की कौन सी आवश्यकताएँ वास्तविक "आवश्यकताएँ" हैं और कौन सी फ़ालतू। एक वन-देवी और वन-देवता की जो आवश्यकताएँ हैं, वे बम्बई में रहने वाले किसी भी नागरिक की आवश्यकताओं

से सर्वथा भिन्न हैं। तो भी अपनी अवस्था, अपनी स्थिति आदि के हिसाब से हर आदमी अपने लिए अपनी आवश्यकताओं की एक व्यवहारिक रेखा खींच सकता है। अब उसे अविचारपूर्वक रबड़ की तरह बढ़ाते जाना और बढ़ने देना 'लोभ' के ही कारण होता है। इस लोभ की तो कहीं भी इति नहीं है। यदि एक के बाद दूसरी चीज़ के पीछे भागते फिरना ही मानव के सुख की अनिवार्य शर्त है तो मानव कभी सुखी हो ही नहीं सकता। मानव को अपनी सीमा के अन्दर 'न बहुत थोड़ी और न बहुत ज़्यादा' आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने मात्र में सुख अनुभव करने की कला आनी चाहिए। इस कला का अभ्यास हो तो बहानेबाज़ी की कला में अवश्य कुछ ह्रास हो सकता है।

अज्ञान, लोभ और भ्रम तीनों कुछ ऐसे परस्पर आश्रित हैं कि उनमें कौन किसका मूल कारण है, कह सकना कठिन है। तो भी बहानेबाज़ी का एक मूल कारण तो भय है ही। दण्ड का भय। हम सच बोलने का उपदेश तो देते ही रहते हैं किन्तु अपने दिन-रात के व्यवहार से साथ-साथ यह प्रचार भी करते रहते हैं कि सच बोलने से हमेशा दण्ड मिलता है, और झूठ बोलकर आदमी बहुधा दण्ड से बच भी जाता है। घर का नौकर बाज़ार सामान लाने गया है, विद्यार्थी जी पढ़ने गये हैं। नौकर को घर लौटने में और विद्यार्थी जी को स्कूल पहुँचने में देर हो गयी। दोनों की देरी का असल कारण तो रहा है उसका सड़क पर होने वाले तमाशे को देखने लग जाना। अब यदि नौकर घर लौटकर और विद्यार्थी स्कूल पहुँचकर अपनी देरी का सच्चा-सच्चा कारण बता दें तो क्या दोनों को यह विश्वास हो सकता है कि दोनों को दण्ड या कम से कम डाँट-डपट नहीं सुननी पड़ेगी! यदि इतना विश्वास हो जाय तो दोनों में से एक भी बहानेबाज़ी से काम न ले।

बहानेबाज़ी के पहले दोनों अक्षर हैं 'ब' और 'ह' तथा भय का पहला अक्षर भी 'ब' और 'ह' के संयोग से ही बना प्रतीत होता है। बहानेबाज़ी के मूल में ही है—भय।

बहानेबाज़ी के बारे में इतनी देर तक कुछ कहते-सुनते रहना भी एक तरह की बहानेबाज़ी ही समझा जा सकता है। मैं स्वीकार करता हूँ।

बुद्ध गया और सारनाथ

यूँ बौद्ध शिल्पकला और चित्रकला के प्रतिनिधि हैं—साँची और अजन्ता। किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रतीकों में जिन दो स्थानों की गिनती होनी ही चाहिए वे तो हैं बुद्ध गया और सारनाथ।

सिद्धार्थ का जन्म लुम्बिनि में और बुद्ध का जन्म बुद्ध गया में हुआ था, इसी प्रकार तथागत के धर्म का जन्म सारनाथ में और उनका परिनिर्वाण कुशीनगर में हुआ था। यह लुम्बिनि, बुद्ध गया, सारनाथ और कुशीनगर ही बौद्धों के चार प्रधान तीर्थ हैं। संस्कृति के इन चार प्रतीकों में से हम केवल दो की चर्चा कर रहे हैं।

सिद्धार्थ ने २८ वर्ष की आयु में गृह-त्याग किया। छः वर्ष साधना के थे। ३५ वर्ष की आयु में वह जिस स्थल पर वज्रासन लगाकर बैठे और जहाँ उन्हें बुद्धत्व लाभ हुआ, उसी पुण्यभूमि का प्राचीन नाम बौधि-मण्डप है। आधुनिक नाम है बुद्ध गया।

सिद्धार्थ का हठ संकल्प था—"चाहे शरीर का सारा मांस और रक्त सूख जाय और शेष रह जाय केवल चमड़ी। नसें और हड्डियाँ ही, जो कुछ

पुरुष की सामर्थ्य से, पुरुष के पराक्रम से प्राप्य हैं, मैं वह सब कुछ बिना प्राप्त किये अपने प्रयत्न को कभी शिथिल न होने दूँगा।"

जिसका ऐसा दृढ़ संकल्प हो उसका कौन-सा उद्देश्य असिद्ध रह सकता है?

उत्तर रेलवे के गया स्टेशन से कुछ छः मील की दूरी पर बुद्ध गया स्थित है। बौद्ध यात्रियों के लिए तो बुद्ध गया पूजनीय स्थान है ही, संसार भर के पुरातत्व-विदों, इतिहासज्ञों और सामान्य पर्यटकों के लिए भी बड़ा भारी आकर्षण है।

यूँ तो बुद्ध गया की चप्पा-चप्पा ज़मीन भारतीय इतिहास की उपादान सामग्री की एक अनमोल कड़ी है, किन्तु यहाँ चार चीज़ें विशेष महत्व की हैं—

१—महाबोधी मन्दिर २—बोधि वृक्ष ३—वज्रासन ४—विहार के गिर्द प्रस्तर वेष्ठनी।

भारत के मन्दिरों में महाबोधी-विहार अथवा बुद्ध गया मन्दिर एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा असाधारण शिल्प-प्रासाद है। न केवल भारत में किन्तु विदेशों में भी इसकी नकलें की गयीं हैं। १३वीं शताब्दी में बर्मा के पगन नगर में एक छोटे-मोटे बुद्ध गया मन्दिर का निर्माण हुआ।

महाबोधी-विहार के नीचे एक चतुष्कोणी-रचना है। ऊपर की ओर बढ़ते-बढ़ते अपनी गर्दन के पास पहुँचकर यह गोलाकार हो गया है। चारों कोनों पर मुख्य शिखर के सदृश्य चार शिखर हैं, जो इस सारे शिल्प-प्रासाद को अद्भुत सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

विहार का मुख्य-द्वार पूर्व की ओर है। द्वार तक पहुँचने से पहले यात्री को पत्थर की सीढ़ियों से उतरना पड़ता है। मन्दिर के मुख्य प्रवेश द्वार के दोनों ओर के ताक़ों में छोटी-छोटी बुद्ध-मूर्तियाँ हैं, जिन्हें तिब्बत-यात्रियों की श्रद्धा ने स्वर्णिम बना दिया है। विहार का केन्द्रिय-गर्भ सबसे नीचे तल पर ही है। दरवाज़ा और खम्बे दोनों ही पत्थर के है। दर्शक ज्यों ही दर्शनार्थी

मन्दिर में प्रवेश करता है, ऊँचे आसन पर उसे बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा के दर्शन होते हैं। उसे भी तिब्बती यात्रियों ने अपनी श्रद्धा से स्वर्णिम बना दिया है। मूर्ति पूर्वाभिमुख है। बोधि-वृक्ष की ओर पीठ किये हुए। ठीक वैसे ही जैसे किसी समय तथागत वज्रासन लगाकर बैठे थे। मूर्ति सचमुच एक सुन्दर कलाकृति है। इसके चारों ओर जो थोड़ी जगह है, वह इतनी साफ़ और स्वच्छ रहनी ही चाहिए कि अनायास ही योगाभ्यासियों के उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हो सके।

बुद्ध गया-विहार का ऊपरी तल्ला भी है। इस तक दोनों ओर की सीढ़ियों से पहुँचा जा सकता है। छत पर पहुंचकर मुख्य शिखर की परिक्रमा की जा सकती है। चारों कोनों पर बने हुए चार शिखरों में से पश्चिम की ओर के दोनों शिखरों में बोधिसत्वों की मूर्तियाँ हैं और पूर्व के दोनों शिखरों में से होकर सीढ़ियों का रास्ता है। इन सीढ़ियों वाले शिखरों में भी एक-एक बुद्धमूर्ति विराजमान है। खेद का विषय है कि इन सभी मूर्तियों के गले में गेरुए रंग के चीथड़े पड़े हैं। न जाने अनजान हाथों ने क्या सोचकर मूर्तियों के सौन्दर्य और श्रद्धालुओं की श्रद्धा पर एक साथ आघात किया है।

विहार के भूमितल से लगभग १५ फुट ऊँची, विहार के चारों ओर की भूमि, जो विहार की यथार्थ ऊँचाई और उसके प्रभाव को बहुत कुछ ढक लेती है। विहार का भूमितल ४८ वर्गफुट है और ऊँचाई १७० फुट। सामने चूने का प्लास्तर है, जिसमें असंख्य ताक़ हैं, उत्कीर्ण मूर्तियाँ हैं, बेल-बूटे हैं।

मन्दिर का सुन्दर-तम दर्शन उत्तर से ही होता है। यह एक ऐसा दृश्य है जिसे कोई श्रद्धालु कभी भूल ही नहीं सकता। अपनी प्रभावोत्पादक प्रकृति के कारण और चारों ओर की शान्ति तथा गाम्भीर्य के कारण।

बोधि वृक्ष—वैशाख पूर्णिमा की रात्रि को तथागत ने जिस पीपल के वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था, उसी वृक्ष को श्रद्धालुओं ने बोधि-वृक्ष कहा है। ठीक वह वृक्ष तो अब अपने स्थान पर नहीं है। इतिहास ने उसे दो-दो बार—एक बार तो अशोक की ईर्ष्यालु रानी तिष्यरक्षिता के हाथों और दूसरी बार शशांक के हाथों कटते देखा है। लेकिन वह अपनी

कटी हुई जड़ों में से फिर-फिर उग आया। १८७० में जब जर्नेल कनिघंम विहार की मरम्मत के कार्य में संलग्न थे, वह पुरातन वृक्ष गिर पड़ा। उन्होंने उसकी शाखा लेकर ठीक उसी स्थान पर लगवा दी। आज का बोधि वृक्ष यही कोई ८० वर्ष का पुराना बोधि वृक्ष है। अपने महान पूर्वज का उत्तराधिकारी होने से वह अपने पूर्वज के बौधि-द्रुमों की भाँति ही पूज्य है।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक पुत्री संघमित्रा उस पुरातन बोधि-वृक्ष की ही एक शाखा सिंहल ले गयी। वह शाखा वहाँ के पवित्र ऐतिहासिक नगर अनुराधपुर में ले जाकर रोपी गयी। सिंहल के बौद्ध पिछले दो हज़ार वर्ष से प्राण-पन से उसकी सेवा और पूजा करते चले आ रहे हैं। संसार भर में इससे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष नहीं ही है।

वज्रासन—जिस आसन से अथवा जिस आसन पर बोधिसत्व ने विराज-मान होकर मार-विजय के अनन्तर बुद्धत्व प्राप्त किया, उसी स्थल पर बुद्ध के उस अविजित संकल्प का मूर्त-रूप वज्रासन विद्यमान है। पत्थर का एक आसन सुन्दर ढंग से उत्कीर्ण है। ७ फुट ६ इंच लम्बा, ४ फुट १० इंच चौड़ा और ३ फुट ऊँचा। यह मन्दिर और बोधि वृक्ष के बीच एक ऊँचे प्लेटफ़ार्म पर स्थित है।

विहार के गिर्द की प्रस्तर वेष्ठनी—इस समय इस प्रस्तर-वेष्ठनी का एक हिस्सा ही शेष बचा है। यह साधारणतया अशोक-कालीन समझी जाती है। पर वास्तव में बहुत बाद की है। इसपर उत्कीर्ण लेख ही इस के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह शुंगकालीन रचना है। ब्राह्मी अक्षरों में कई दाताओं के नामोल्लेख भी इसपर जहाँ-तहाँ उत्कीर्ण हैं। अशोक के समय की प्रस्तर वेष्ठनी बहुत चिकनी और पालिश की हुई-सी है और यह है सामान्य। उसमें कहीं कुछ भी उत्कीर्ण नहीं हैं और ये अनेक कलाकृतियों से अलंकृत है।

बुद्ध गया मन्दिर के दो हज़ार वर्ष के इतिहास ने बहुत ऊँच-नीच देखा है। पाँचवी शताब्दी के फ़ाहियान और सातवीं शताब्दी के ह्यूनसाँग के

यात्रा-वृत्तान्त उस इतिहास के दो महत्वपूर्ण परिच्छेद हैं। उसका सबसे अन्तिम परिच्छेद सबसे अधिक दुखद है।

अब हम बुद्ध गया से सारनाथ चलें। एक दृष्टि से हमारे लिए सारनाथ बुद्ध गया से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि बुद्ध गया में तो सिद्धार्थ को ज्ञान प्राप्त हुआ था और सारनाथ से हम सबको ज्ञान प्राप्त होना आरम्भ हुआ। लिखा है कि 'वाराणसी में कवियतन में, मृगदाय में, तथागत ने वह धर्म चक्र प्रवर्तित किया जो न कोई (दूसरा) श्रमण ही कर सके, न ब्राह्मण ही कर सके, न कोई देवता ही कर सके, न मार ही कर सके और न स्वयं ब्रह्मा ही कर सके।'

सारनाथ नाम की सबसे अधिक व्याख्याएँ की गयी हैं। आश्चर्य है कि किसी प्राचीन ग्रन्थ में सारनाथ का नाम नहीं आता। पालि वाङ्मय में इस पुण्यभूमि का उल्लेख 'इसियतन' तथा 'मिगदाय' नाम से ही होता है।

बुद्ध गया से क्रमशः चारिका करते-करते जिस समय बुद्ध वाराणसी पहुँचे तो वहाँ पहले से पहुँचे हुए उनके किसी समय के पाँच शिष्यों ने उन्हें मार्ग-भ्रष्ट समझ उनका आदर-सत्कार नहीं किया। सिद्धार्थ ने समझाया कि गौतम मार्ग-भ्रष्ट नहीं है। उन्होंने उन पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया—

'भिक्षुओ, साधु को इन दो सिरे की बातों से बचना चाहिए। कौन सी दो बातों से—एक तो इस हीन, ग्राम्य, सामान्य मनुष्यों के योग्य, अनार्य जन सेवित, अनर्थकारी, काम-वासनाओं से युक्त जीवन से, और दूसरे दुखमय, अनार्यजनसेवित, आत्मक्लेशमय जीवन से। इन दोनों ही अतियों में न जाकर तथागत ने मध्यम मार्ग खोज निकाला है, जोकि आँख देने वाला है, ज्ञान कराने वाला है और निर्वाण के लिए है। कौन सा है वह मध्यम मार्ग जो तथागत ने खोज निकाला है? यही आर्य अष्टांगिक मार्ग—सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्म, सम्यक प्रयत्न, सम्यक जीविका, सम्यक स्मृति, सम्यक समाधि। यही है भिक्षुओ मध्यम-मार्ग!'

सारनाथ में ही भगवान बुद्ध के इकसठ अर्हत-शिष्य हो गये थे। उन्हें

सम्बोधित करते हुए भगवान ने उपदेश दिया था—

'भिक्षुओ, जितने भी दिव्य अथवा मानुष बन्धन हैं, मैं उन सबसे मुक्त हूँ। तुम भी सभी दिव्य अथवा मानुष बन्धनों से मुक्त हो। भिक्षुओ, बहुजनों के हित के लिए बहुजनों के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, सुख के लिए, हित के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ, आदि में कल्याणकारक, मध्य में कल्याणकारक और अन्त में कल्याणकारक धर्म का उपदेश करो।'

वर्तमान सारनाथ के प्राचीन और आधुनिक रूप में विभाजक रेखा खींचना सरल कार्य नहीं। पुस्तकालय, धर्मशाला, महाबोधी विद्यालय, महाबोधी डिस्पेंसरी आदि संस्थाएँ आधुनिक सारनाथ का प्रतिनिधित्व करती हैं, और धमेक स्तूप, धर्मराजिक स्तूप के ध्वंसावशेष, प्राचीन विहारों के खण्डहर तथा कुमारदेवी के बनवाये हुए जिन-चक्र विहार के अवशेष प्राचीन सारनाथ के प्रतीक हैं। मूलगन्धकुटी विहार और म्युज़ियम प्राचीन और आधुनिक दोनों का सम्बन्ध स्थापित करने वाली और दोनों के बीच की कड़ियाँ हैं।

धमेक स्तूप अन्दर से एकदम ठोस है। नीचे तक खोजने पर भी इसके अन्दर से कुछ हाथ नहीं लगा है। सम्भावना यही है कि भगवान बुद्ध का प्रथम उपदेश यहीं हुआ। तथागत का प्रथम उपदेश धर्मचक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यही धर्मचक्र इस समय स्वतन्त्र भारत के राजकीय चिह्न के रूप में अपनाया गया है। धर्मचक्र—धम्म-चक्क = धम्म + चक्क = धमेक। इसी क्रम से इस स्तूप का धमेक नाम पड़ा प्रतीत होता है। इसकी गोलाई कोई सौ .फुट और ऊँचाई कोई डेढ़ सौ .फुट होगी। इसकी आरम्भिक रचना अशोक-कालीन और बाद की गुप्त-कालीन है।

विहारों के ध्वंसावशेषों में धर्म-राजिक स्तूप और अशोक स्तम्भ मुख्य हैं। धर्म-राजिक स्तूप में अब एक प्रकार से नाम शेष रह गया है, किन्तु अशोक स्तम्भ एक बार खण्डित होकर भी फिर अपने मुड़े हुए रूप में यथा-स्थान विद्यमान है। उसका चार सिंहों वाला प्रसिद्ध ऊपरी भाग पास के

म्युज़ियम में सुरक्षित है। अशोक स्तम्भ का ब्राह्मी लेख उसके अशोक स्तम्भ होने का अमिट साक्षी है।

प्राचीन विहारों के ध्वंसावशेषों में कुमारदेवी का बनवाया हुआ मन्दिर भी है। यह कदाचित् बारहवीं शताब्दी की अन्तिम रचना है। उसके बाद सारनाथ में फिर कोई और विहार बना प्रतीत नहीं होता। इस समय सारनाथ में जो नया जीवन और नया जागरण दिखायी देता है, वह पूरे आठ सौ वर्ष तक एक प्रकार से सारनाथ के मूर्छित रहने के बाद।

सारनाथ और उसके आसपास से प्राप्त अनेक कला-कृतियाँ सारनाथ म्युज़ियम में संगृहीत हैं।

सारनाथ स्टेशन से मूलगन्धकुटी विहार की ओर आगे बढ़ते हुए सड़क के किनारे चौखण्डी स्तूप है। हुमायूँ की याद में अकबर की बनवायी हुई ऊपर की इमारत के बारे में स्थानीय जनता का कथन है कि लोहरी नाम का अहीर लगभग आधी मील दूर स्थित धमेक स्तूप से दूध की बैंहगी लेकर इस चौखण्डी स्तूप पर कूद जाया करता था।

इसमें क्या सन्देह हो सकता है कि यह किसी बहादुर अहीर की सूझ है।

भारतीय संस्कृति के दो बड़े प्रतीकों—बुद्ध गया और सारनाथ को हमारा नमस्कार है।

साँची का सन्देश

★

शुद्धि एक चीज़ है, पवित्रता दूसरी। शुद्ध हवा का कुछ अर्थ है, पवित्र हवा का क्या अर्थ है ? हम शुद्ध पानी की तो बात करते ही हैं, पवित्र पानी की भी बात करते हैं ? शुद्ध भूमि की तो बात करते ही हैं, पवित्र भूमि की भी बात करते हैं। मैं नहीं जानता कि तात्विक दृष्टि से कोई भी भूमि 'पवित्र-भूमि' होती है या नहीं ! किन्तु यदि कोई भी भूमि 'पवित्र भूमि' होती है तो भूपाल से अगला स्टेशन "साँची" भारत की पवित्र भूमियों में अन्यतम है।

चौथी शताब्दी में स्थविर महानाम द्वारा रचित सिंहल के इतिहास अर्थात् 'महावंश' में लिखा है—

"पिता के दिये हुए अवन्ती राज्य का शासन करने के लिए उज्जयनी पहुँचने से पूर्व अशोक (मार्ग में) विदिशानागर में ठहरे थे। जहाँ एक सेठ की देवी नाम की पुत्री से उनकी भेंट हुई। कुमार के सहवास से उसे गर्भ हो गया और उज्जयनी में उससे शुभ महेन्द्रकुमार का जन्म हुआ। उसके दो वर्ष बाद उस देवी से संघमित्रा पैदा हुई। उस समय वह (देवी) वहाँ विदिशागिरि में ही रहती थी।" ॥१३,८-११॥

"महामति महेन्द्र स्थविर को उस समय प्रव्रजित हुए बारह वर्ष हो गये थे। उन्होंने अपने उपाध्याय और संघ की आज्ञा के अनुसार लंका को बुद्ध भक्त बनाने के लिए लंका जाने का निश्चय किया।"

"इस बीच में ज्ञातिगणों (सम्बन्धियों) को देखने के विचार से उपाध्याय और संघ की वन्दना कर तथा राजा (अशोक) से पूछ महेन्द्र स्थविर अन्य चार स्थविरों तथा संघमित्रा के पुत्र महासिद्ध षड्भिज्ञ सुमन सामनेर को साथ ले, सम्बन्धियों से मिलने के लिए दीजनागरी गये।" ॥१३, १-५॥

"फिर धीरे-धीरे (अपनी) माता देवी के विदिशागिरि नगर में पहुँच कर उसके दर्शन किये। देवी ने अपने प्रिय पुत्र को साथियों सहित देखकर अपने हाथ से भोजन बना उन्हें खिलाया और सुन्दर विदिशागिरि विहार में स्थविर को उतारा।" ॥१३; ६-७॥

सम्भवतः महावंश का यह विदिशागिरि ही साँची से थोड़ी ही दूर पर स्थित वर्तमान 'भेलसा-नगर' है। भेलसा-नगर में वैष्णव मतावलम्बियों के एक बड़े काम की चीज़ है। प्रथम या द्वितीय शताब्दी में एक ग्रीक यहाँ आया था। उसने वैष्णव धर्म स्वीकार किया और उसकी याद में गरुड़-ध्वज नाम का एक शिलास्तम्भ गड़वाया। उस समय का वैष्णव धर्म यवनों को किस सरलता से वैष्णव बना सकता था।

सरजन मार्शल ने इसी साँची के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

"इस पर्वत के नाना रंगों के पत्थरों और चट्टानों में रूप और रंग का समान सौन्दर्य है। उसके चारों ओर उगी हुई वनस्पति इस सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देती है। बसन्त के आरम्भ में जब ढाक के फूल यहाँ खिलते हैं तो सारी पहाड़ी तक अद्भुत छटा से ढक जाती है।"

साँची हम से बहुत दूर नहीं है। वह हमारे हृदय के बहुत समीप है। हमें उसके बारे में जानकारी होनी चाहिए।

भिलसा से लगभग बारह मील के घेरे में पाँच पुरातन अवशेष हैं, जो

साँची-स्तूप कहलाते हैं। वे पाँचों हैं—

१. साँची—भिलसा से साढ़े-पाँच मील दक्षिण-पश्चिम।

२. सोनारी—साँची से छै मील दक्षिण-पश्चिम।

३. सतधार—साँची से साढ़े छः मील पश्चिम।

४. पिप्पलय—साँची से सात मील पूर्व, पच्छिम-पूर्व।

५. अन्धेर—भिलसा से नौ मील पूर्व, दक्षिण-पूर्व।

हम इनमें से भिलसा से साढ़े-पांच मील दक्षिण-पच्छिम जो साँची के स्तूप हैं, उन्हीं की चर्चा करने जा रहे हैं और उनमें से केवल तीसरे स्तूप की, क्योंकि इसे ही भगवान बुद्ध के दोनों प्रधान शिष्यों सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के धातुओं को लगभग दो हज़ार वर्ष से अधिक सुरक्षित रखने का श्रेय प्राप्त है।

१८५१ के जनवरी के अन्त और फ़रवरी के आरम्भ में जरनल कनिंघम और लेफ़टिनैण्ट मेसे ने प्रथम बार इन स्तूपों के अन्दर के रहस्य का उद्घाटन किया।

जब तीसरे स्तूप के ऊपर से एक मोटा सूराख़ करके उसे यन्त्र द्वारा अन्दर तक ले जाया गया तो कुछ घंटे के परिश्रम के बाद जरनल कनिंघम को कोई पाँच .फ़ुट से अधिक लम्बी पत्थर की शिला पर जाकर रुकना पड़ा। इस शिला को उठाने पर उसके नीचे से पूरे पत्थर के दो बक्स निकले। प्रत्येक के ढक्कन पर ब्राह्मी अक्षर खुदे थे। जो दक्षिण की ओर था उस पर खुदा था—सा रि पु त स।

जो उत्तर की ओर था उस पर खुदा था—म हा मो ग ल न स।

प्रत्येक बक्स डेढ़ .फ़ुट लम्बा-चौड़ा था और उसपर ६ इंच मोटा ढक्कन था।

दक्षिण की ओर जो पत्थर का बक्स रखा था उसमें सफ़ेद पत्थर की एक बड़ी डिबिया थी, कोई ६ इंच चौड़ी और ३ इंच ऊँची। इसी डिबिया के पास चन्दन की लकड़ी की दो पतली-पतली चपरियाँ रखी थीं—एक साढ़े चार इंच लम्बी और दूसरी साढ़े तीन इंच लम्बी।

डिबिया के बाहर किन्तु बड़े पत्थर के अन्दर एक जीती मकड़ी भी मिली।

इसी छोटी डिबिया के अन्दर से भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य महास्थविर सारिपुत्र की केवल एक पवित्र हड्डी मिली और उसके साथ थे सात भिन्न-भिन्न तरह के माला के मनके।

उत्तर की ओर जनरल कनिंघम को एक और बक्स मिला, जो सारिपुत्र वाले बक्स से कुछ छोटा था। इस बक्स में महास्थविर मौगल्यायन की दो पवित्र हड्डियाँ मिलीं, उनमें से जो बड़ी थी वह आधे इंच से भी छोटी थी।

हर डिबिया के ढक्कन की ओर आध इंच ऊँचा स्याही से लिखा एक सुन्दर अक्षर है। सारिपुत्र की डिबिया में है—सा

महा मौगल्यायन की डिबिया के ढक्कन के अन्दर की ओर लिखा है—मा

दोनों पत्थर की डिबियाँ जिस क्रम से रखी मिली हैं उसका भी महत्व है। जब भगवान बुद्ध पूर्व की ओर मुँह करके बैठते तो दक्षिण दिशा उनके दाहिने हाथ की ओर रहती और उत्तर दिशा उनके बायें हाथ की ओर। सारिपुत्र और मौगल्यायन भगवान बुद्ध के दो प्रधान शिष्य होने से, उनके दायें और बायें हाथ कहे जाते थे। उनके अन्तिम अवशेष भी उसी क्रम से रखे गये, जैसे वे भगवान बुद्ध के दायें-बायें बैठते रहे होंगे।

पत्थर के बड़े बक्सों के ढक्कन, जिन पर सारिपुतस और महामोगलनस लिखा है, साँची अजायबघर में सुरक्षित रखे हैं।

जिस समय यह पवित्र धातु साँची के स्तूप में मिले, उसी समय यह यहाँ से इंगलैण्ड ले जाये गये। लगभग १०० वर्ष तक यह लन्दन के म्यूज़ियम में सुरक्षित रहे। बौद्धों के आन्दोलन करने पर लंदन के म्यूज़ियम के अधिकारियों ने यह सौजन्य दिखाया है कि सारिपुत्र और मौगल्यायन की उन पवित्र हड्डियों को, उनके धातुओं को, उन्होंने भारतीय सरकार को सौंप दिया। किन्तु उन डिब्बियों को जिन पर यह दो अक्षर—सा और मा—स्याही से लिखे हैं, अंग्रेज़ों ने नहीं लौटाया। उनका कहना है कि यह स्याही के

प्राचीनतम उदाहरण हैं और इसलिए वे इन्हें अपने पास सुरक्षित रखना चाहते हैं।

स्याही के लेख के प्राचीनतम उदाहरण। हाँ, किन्तु कहाँ से प्राप्त? भारत से! तो क्या भारत के लिए उनका कुछ मूल्य नहीं कि भारतीय सरकार उन्हें इंगलैण्ड में पड़ा रहने दे?

इन स्याही के दो ऐतिहासिक अक्षरों वाली डिब्बियों में जो पवित्र हड्डियाँ मिली हैं, उनका इतिहास साक्षी है। संयुक्तनिकाय में लिखा है—

"भगवान (बुद्ध) श्रावस्ती में अनाथपिंडक के जैतवनाराम में ठहरे थे।

आयुष्मान सारिपुत्र मगध में नालक ग्राम (अपनी जन्मभूमि) में रोग से अत्यन्त पीड़ित थे। आयुष्मान चुन्द उनकी सेवा-सुश्रषा कर रहे थे। इसी रोग की अवस्था में आयुष्मान सारिपुत्र परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।

आयुष्मान चुन्द सारिपुत्र का पात्र चीवर ले श्रावस्ती में, अनाथपिंडक के जैतवनाराम में, जहाँ आयुष्मान आनन्द रहते थे, पहुँचे। जाकर आनन्द से बोले—आनन्द! आयुष्मान सारिपुत्र परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये। यह उनका पात्र-चीवर है और उस जल छानने के कपड़े में उनके धातु (अस्थि-शेष) हैं।"

"चुन्द! चलो भगवान के पास चलें, और उनसे जाकर कहें।"

चुन्द और आनन्द भगवान के पास पहुँचे और प्रणाम कर एक ओर बैठ गये। आनन्द ने कहा— भन्ते! आयुष्मान चुन्द कहते हैं कि सारिपुत्र परिनिर्वृत हो गये। यह उनका पात्र-चीवर है और इसी पानी छानने के कपड़े में धातु-शेष। भन्ते! यह सुनकर मेरा शरीर तो मानो जड़ हो गया। चारों ओर अन्धकार छा गया। धर्म की तो बात ही क्या, दिशाएँ तक सूझनी बन्द हो गयीं। ओह! सारिपुत्र परिनिर्वृत हो गये।"

"क्यों आनन्द किस लिए? क्या सारिपुत्र शील को अपने साथ ले गये? समाधी को अपने साथ ले गये? प्रज्ञा को अपने साथ ले गये? विमुक्ति को अपने साथ ले गये? विमुक्ति ज्ञान-दर्शन को अपने साथ ले गये?"

"नही भन्ते! आयुष्मान सारिपुत्र न शील को आने साथ ले गये, न

समाधी को अपने साथ ले गये, न प्रज्ञा को अपने साथ ले गये, न विमुक्ति को अपने साथ ले गये। लेकिन भन्ते! आयुष्मान सारिपुत्र मेरे उपदेशक थे। वे धर्म के ज्ञाता थे। अपने सब्रह्मचारियों पर उनकी बड़ी कृपा थी। भन्ते! मैं सारिपुत्र की उस धार्मिक करुणा, दया, कृपा का स्मरण करता हूँ।"

"आनन्द! जिस प्रकार किसी बड़े भारी वृक्ष के रहते उसका सबसे बड़ा सार वाला तना टूट कर गिर जाय, इसी प्रकार महान भिक्षु-संघ के रहते सारवार सारिपुत्र का परिनिर्वाण हो गया। आनन्द! यह कहाँ मिलेगा कि जो पैदा हुआ है, जिसकी रचना हुई है, जो अस्तित्व में आया है, उसका विनाश न हो? नहीं आनन्द यह नहीं हो सकता। इसलिए आनन्द! अपने दीपक आप बनो। किसी दूसरे का आश्रय मत देखो। धर्म को ही अपना दीपक समझो। धर्म का ही आश्रय ग्रहण करो।"

और तथागत ने धर्म सेनापति सारिपुत्र के धातुओं पर जैतवनाराम में एक स्तूप बनवाया। उसके दो सप्ताह बाद महास्थविर मौंगल्यायन का भी परिनिर्वाण हो गया। तथागत ने उनके धातुओं पर राजगृह में एक स्तूप बनवाया। अजातशत्रु ने भी दोनों प्रधान शिष्यों के धातुओं की सुरक्षार्थ तथा पूजार्थ दो स्तूप बनवाये।

इतिहास कहता है कि अशोक दोनों प्रधान शिष्यों के धातुओं की पूजा करने के लिए श्रावस्ती गया था। इस बात की पूरी सम्भावना है कि जिस समय अशोक ने बुद्ध के धातुओं को भारत भर में वितरित किया उस समय उसने दोनों प्रधान शिष्यों के धातुओं को भी भारत के भिन्न-भिन्न नगरों को पूजार्थ बाँट दिया हो।

साँची के तीसरे स्तूप के बारे में जनरल कनिंघम का कहना है—"स्तूप के गिर्द जो वेष्टिकाएँ बनी हैं, वे मेरी सम्मति में अशोक-कालीन हैं। उसी समय का यह स्तूप भी होगा। यद्यपि यह भी सम्भव है कि स्तूप उससे पहले ६०० ई० पूर्व में ही बन गया हो।"

सारिपुत्र प्रज्ञा की ही नहीं, करुणा की भी साक्षात मूर्ति थे। एक दिन

उन्होंने एक बालक को देखा—चीथड़े पहने, घर के बाहर फेंके हुए भात के कण चुन-चुन कर खा रहा था, जैसे कोई भूखा कौआ हो। सारिपुत्र का हृदय उस बालक की दरिद्रता पर काँप उठा। समीप बुलाकर पूछा—

"बाल! तुम्हारे माता-पिता कहाँ हैं?"

"मैं अनाथ हूँ।"

"क्या तुम दीक्षित होना पसन्द करोगे?"

"मुझे कौन दीक्षित करेगा?"

"बाल! मैं करूँगा।"

स्थविर ने बालक को अपने भिक्षापात्र में से खिलाया। स्वयं उसके हाथ धुलवाये। वह बालक भी आगे चलकर एक सिद्ध पुरुष हुआ।

तीन वर्ष पूर्व लन्दन से सारिपुत्र और मौंगल्यायन के ये धातु जब कोलम्बो लाये गये तो 'सीलोन डेली न्यूज़' नामक पत्र ने उस समय का दृश्य इन शब्दों में चित्रित किया है—

"सारिपुत्र और मौंगल्यायन के धातुओं का स्वागत और उन्हें म्यूज़ियम तक जलूस के साथ ले जाने का ऐसा दृश्य आधुनिक इतिहास में इससे पहले देखने को नहीं मिला।

द्वीप के सभी हिस्सों से जो लोग जलूस में शामिल हुए उनकी संख्या दस लाख से भी अधिक रही होगी।

कोलम्बो म्युज़ियम में आकर जिन श्रद्धालुओं ने अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाये उनकी निश्चित संख्या २०,५२,६१५ है।"

कलकत्ते में इन धातुओं के आने पर पंडित जवाहरलाल नेहरू और उनकी सरकार ने राजकीय स्वागत किया। उत्तरप्रदेश ने किया, बिहार ने किया। भारत से बाहर हमारे पड़ोसी बर्मा ने किया। बर्मा के बाद लद्दाख़ ने किया।

एक जगह से दूसरी जगह यह धातु हवाई जहाज़ों में और सैनिक जहाज़ों में ले जाये गये।

हर देश में लाखों आदमियों द्वारा इस प्रकार अपना स्वागत होते देखकर धर्म-सेनापति की अस्थियाँ सोचने लगीं—"शायद सारा देश धर्ममय है।"

किन्तु किसी ने उनसे धीरे से कहा—

"धर्म-सेनापति आज तो धर्म नीलामी पर चढ़ा है, जिसे सभी देश के सेठ-साहूकार और सरकारें बड़ी-से-बड़ी क़ीमत देकर ख़रीद रही हैं। धर्म-सेनापति! आपकी पवित्र धातुओं का स्वागत भी देश और समाज की इसी प्रवृत्ति का प्रतीक है।

धर्म-सेनापति की दो हज़ार वर्ष पुरानी हड्डियाँ बोल उठीं—

"क्या सचमुच?"

बाबा गुरुदत्त सिंह

★

"मुझे ज़रा जल्दी है," डा० सफ़ात ने कहा।

"क्यों कहाँ जा रहे हो?"

"बाबा गुरुदत्त सिंह को देखने।"

मेरा माथा ठनका। "कौन बाबा गुरुदत्त सिंह?"

"कौमा-गाता-मारू वाले गुरुदत्त सिंह।"

"कौमा-गाता वाले बाबा गुरुदत्त सिंह? वह अभी हैं?"

"हाँ उनकी आयु काफ़ी हो गयी है। बैरकपुर में बीमार पड़े हैं। मैं उन्हें देखने जा रहा हूँ।"

"क्या मैं भी साथ चल सकता हूँ?"

"चलिए, इस समय वह अच्छी हालत में नहीं हैं। उन्हें अपनी सुध-बुध तक नहीं है। किसी को पहचानते तक नहीं।"

मैं बाबा गुरुदत्त सिंह के दर्शन करने के लिए इतना उत्सुक था कि एक मित्र को दिया गया वचन भी भूल गया। खेद है कि जिस समय वह आये, मैं अपने स्थान पर न था। बाबा गुरुदत्त सिंह के दर्शनों से मिला पुण्य भी वचन-भंग का प्रायश्चित नहीं ही हो सकता।

बाबा गुरुदत्त सिंह और उनके कौमा-गाता-मारू जहाज़ की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की अत्यन्त करुण कहानी है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक भारतीयों ने आर्थिक कारणों से कैनेडा, फ़िलीपाइन तथा ब्राज़ील आदि देशों का प्रवास किया। वे वहाँ पहुँचकर बस गये और भारत की अपेक्षा कहीं अधिक कमा सकने की सुविधा पाकर अपने घर वालों की भी सहायता करने लगे। उनकी देखा-देखी और भारतीय भी बाहर जाने लगे। १९१० में अकेले कैनेडा में १०००० भारतीय पहुँच गये थे। सफ़ेद चमड़ी वालों ने जब देखा कि ये भारतीय अपनी परिश्रमशीलता के बल पर उनके एकाधिकार में हस्तक्षेप कर रहे हैं, तो उन्होंने क़ानूनी पेश-बन्दियाँ लगाकर एशिया के लोगों का उन देशों में आगमन रोक देना चाहा।

१९१० में ही 'कैनेडियन इम्मिग्रेशन एक्ट' पास हुआ था। १९११ में उसमें कुछ परिवर्तन हुआ। १९१४ की ७ जनवरी को उसी के अनुसार गवर्नर जनरल की आज्ञा निकली—

१. जब तक कोई यह न सिद्ध कर सके कि उसने अपने देश से कैनेडा का सीधा और बीच में बिना कहीं रुके सफ़र किया है, तब तक कोई भी ऐशिया-वासी कैनेडा में प्रविष्ट न हो।

२. जब तक वह यह न सिद्ध कर सके कि उसके पास व्यक्तिगत तौर पर २०० डालर (उस समय ६२५ रु० के बराबर) हैं और वह उसके अपने हैं, तब तक कोई भी ऐशिया-वासी कैनेडा में प्रवेश न करे।

कुछ लोगों को अपवाद स्वरूप प्रवेश की आज्ञा मिल सकती थी।

जिस आर्थिक स्थिति के भारतीय उस समय जाना चाहते थे, उनसे उक्त दोनों शर्तों की पूर्ति की आशा नहीं ही की जा सकती थी। फलतः यह आज्ञा सम्पूर्ण रूप से निषेधाज्ञा ही थी।

उस समय के भारतीय शासक—अंग्रेज़—भी नहीं चाहते थे कि भारतीय भारत से बाहर कहीं आयें-जायें, क्योंकि उससे उन्हें डर था कि वे

शासकों से समान और सम्मानपूर्वक व्यवहार की आशा करने लगेंगे, जिसके लिए वे तैयार नहीं थे।

बाबा गुरुदत्त सिंह ने मलाया में और अन्य पूर्वीय देशों में एक सफल ठेकेदार की हैसियत से भ्रमण करते-करते भारतीयों की दयनीय स्थिति का यथार्थ अनुभव किया था—घर में गुलाम और बाहर कुली। उन्होंने भारतीयों के लिए कुछ करने की मन में ठानी। उन्होंने अपना पर्याप्त आयकर ठेकेदारी का धन्धा छोड़ दिया और हाँगकाँग चले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने तय किया कि हाँगकाँग से वैनकोवर (कैनेडा) तक एक अपना जहाज़ ले जाया जाय। वैनकोवर निवासी भारतीयों ने उन्हें हर तरह की सहायता का वचन भी दिया। निश्चय हुआ कि शांघाई, मनीला और योकोहामा होता हुआ जहाज़ वैनकोवर ही पहुँचे।

जहाज़ की व्यवस्था आसान न थी। किन्तु मार्च १९१४ में श्री व्यून नाम के एक जर्मन एजेण्ट की सहायता से बाबा गुरुदत्त सिंह हाँगकाँग से वैनकोवर तक एक जापानी जहाज़ ले चलने की व्यवस्था करने में सफल हुए। जहाज़ का नाम कौमा-गाता-मारू था।

अप्रैल की ४ तारीख़ को हाँगकाँग से जहाज़ विदा हुआ। उस समय उसमें १६५ पंजाबी यात्री थे। शांघाई में १११ नये यात्री जहाज़ पर सवार हुए, मोजी में ८६ और योकोहामा में १४। इस प्रकार जब कौमा-गाता-मारू ने वैनकोवर के लिए प्रस्थान किया तो उस समय उसमें ३७६ यात्री थे। प्रायः सभी सिख। जहाज़ के प्रस्थान करने से कुछ समय पूर्व एक इश्तहार छापा गया था, जिसमें बाबा गुरुदत्त सिंह ने कहा था—

"मैंने जो यह कार्य हाथ में लिया, उसका कारण यह है कि जब मैं १९१४ के जनवरी महीने में हाँगकाँग पहुँचा तो वहाँ वैनकोवर जाने के लिए गुरुद्वारा में जो भाई बैठे थे और उन्हें जो कष्ट हो रहे थे, वे मैं सहन न कर सका। वे वहाँ अपना खाकर वर्षों से पड़े प्रतीक्षा कर रहे थे। हमारे भाइयों पर यह कितना बड़ा ज़ुल्म था! इसका मेरे दिमाग़ पर असर पड़ा।

परिणाम यह हुआ कि मैंने उन्हें किसी भी हालत में वैनकोवर ले चलने का निश्चय किया। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि यदि कोई कम्पनी टिकट नहीं देगी और मुझे लिखेंगे तो मुझसे जो बन पड़ेगा मैं करूँगा और उनका मुक़दमा वैनकोवर के सुप्रीम-कोर्ट तक लड़ूंगा। यदि कैनेडा की सरकार हमें वहाँ उतरने न देगी तो मैं अपनी सरकार के सामने यह प्रश्न उठाऊँगा, और मैं इन सारी बातों से भारत के लोगों को पूरी तरह परिचित कराऊँगा।"*

वही हुआ, जिसका बाबा गुरुदत्त सिंह तथा और लोगों को अन्देशा था। जहाज़ के वैनकोवर पहुँचने पर स्थानीय अधिकारियों ने उन्हें वहाँ उतरने न दिया। बाबा गुरुदत्त सिंह और उनके साथियों ने सारी शर्तें पूरी कर दी थीं, तब भी स्थानीय अधिकारियों ने शर्तों की अपूर्ति की ही आड़ में उन्हें वैनकोवर बन्दरगाह पर न उतरने दिया। शर्तें पूरी हुईं अथवा नहीं हुईं, यह क़ानूनी प्रश्न किसी भी निष्पक्ष अदालत द्वारा तै हो सकता था। किन्तु स्थानीय अधिकारियों ने बाबा गुरुदत्त सिंह को अदालत तक पहुँचने के लिए भी वैनकोवर की भूमि पर पैर नहीं रखने दिया। बाबा गुरुदत्त सिंह को केवल एक वकील से बात-चीत करने की आज्ञा मिली थी, वह भी पर्याप्त दूरी से।

लगातार बाईस सप्ताह तक यात्री कौमा-गाता-मारू जहाज़ में क़ैदी बने पड़े रहे। उनका खाना और पानी तक चुक रहा था। स्थानीय अधिकारियों ने अत्यन्त हृदयहीनता का परिचय दिया। अधिकारी चाहते थे कि यात्री जैसे आये हैं वैसे ही वापस लौट जायँ। यात्रियों ने वापस लौटने से इनकार किया। जहाज़ को ज़बरदस्ती वापस भेजने के लिए पुलिस की शक्ति का उपयोग किया गया, यात्रियों और पुलिस में करारी मुठभेड़ हुई। बाईस पुलिस अफ़सर ज़ख्मी हुए और कप्तान की दो पसलियाँ टूट गयीं। अन्त में सशस्त्र सेना आयी। तब यात्री इस शर्त पर वापस जाने को विवश हुए कि

---

* 'पोलिटिकल ट्रिब्यूनल इन इण्डिया' (१६०७ से १६१७ तक) पृष्ठ २४०।

उन्हें रास्ते के लिए पर्याप्त भोजन सामग्री और पानी मिल जाय। भारतीय ख़ुफ़िया पुलिस का कहना है कि बाबा गुरुदत्त सिंह के काग़ज़ों में कुछ काग़ज़ मिले हैं, जिनमें इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है —

"चौबीस हज़ार डालर के मूल्य की खाद्य सामग्री हमें दी गयी। दुष्ट और ठग फिरंगी से कुछ पाठ ग्रहण कर हमने कहा कि हम तब तक वापस नहीं जायँगे जब तक हमें सौ बकरियाँ, मुर्गे और अण्डे नहीं मिलेंगे। हमें अपनी शक्ति में विश्वास हो चला था। हमने उनमें से कुछ को जूतों से पीटकर २४००० डालर की क़ीमत की खाद्य-सामग्री प्राप्त कर ही ली और हमें विश्वास था कि धमकियां देने से बकरी, अण्डे और मुर्गे भी निश्चित रूप से मिल जायँगे।" *

४ अप्रैल १९१४ को कौमा-गाता-मारू जहाज़ ने वैनकोवर के लिए प्रस्थान किया था। तीन महीने बीस दिन के बाद उसे वापस वैनकोवर से प्रस्थान करना पड़ा। यात्रियों का एकमात्र अपराध इतना ही था कि वे एशिया निवासी थे। ज़रा उनके कष्टों की कल्पना कीजिए! उनका लगभग डेढ़ लाख रुपया मिट्टी हो चुका था। वह भेड़-बकरियों की तरह दो महीने तक जहाज़ में बिना दाने-पानी के क़ैद रहे थे। उन्हें अपने अस्तित्व मात्र के लिए भी लड़ाई लड़नी पड़ी थी, क्योंकि स्थानीय अधिकारियों ने उन्हें बिना दाने-पानी के वापस लौटने पर मजबूर किया था। क्या इन लोगों के मन में सरकार के प्रति घृणा के भाव पैदा करने के लिए किसी क्रान्तिकारी-प्रचार की आवश्यकता थी?

उन्होंने वापस लौटकर हाँगकाँग, शांघाई अथवा सिंगापुर उतरना चाहा। उन्हें कहीं उतरने न दिया गया। कैनेडा में उन्हें 'एशियाई' कहकर नहीं उतरने दिया गया था और एशिया में भी तो वे कहीं न उतर सके। सर्व-व्यापी 'सरकार की' कृपा थी।

---

* 'पोलिटिकल ट्रिब्यूनल इन इण्डिया' (१९०७ से १९१७) पृष्ठ २४१।

कोबे के बृटिश कौंसिल ने भारतीय सरकार के साथ सम्बन्ध स्थापित कर यह तय किया कि इन लगभग साढ़े तीन सौ 'आवारा' भारतीयों के लिए यही करना उचित है कि उन्हें कलकत्ता लाकर उतार दिया जाय।

३ सितम्बर को जहाज़ कोबे से चला। तेरह दिन बाद १६ सितम्बर को सिंगापुर पहुँचा। बाबा गुरुदत्त सिंह का सिंगापुर में उतर सकने का भी प्रयत्न सफल न हुआ। ऐसी थी भारत की पराधीनता !

२६ सितम्बर को कौमा-गाता-मारू हुगली के दहाने पर पहुँचा। अगले दिन चौबीस परगना के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के नायकत्व में बंगाल और पंजाब के बृटिश तथा भारतीय अफ़सरों ने कलकत्ता के दक्षिण में कुलपी नामक स्थान पर कौमा-गाता-मारू का 'स्वागत' किया ! बंगाल और पंजाब सरकार की सम्मिलित योजना थी कि यात्रियों को बज-बज में उतार लिया जाय और रेल में भरकर सीधा पंजाब भेज दिया जाय।

तीन दिन तक 'शस्त्रों' और 'विप्लवी साहित्य' को खोज निकालने के नाम पर यात्रियों को बुरी तरह हैरान किया गया। विप्लव उनके बक्सों में नहीं, किन्तु उनके दिलों में था, जिसे स्वयं सरकार ने अपने व्यवहार से पुष्पित किया था।

२६ सितम्बर को कौमा-गाता-मारू कलकत्ता की ओर बढ़ा चला आ रहा था। उसे उधर ही चौदह मील पहले बज-बज में रोक लिया गया। ग्यारह बजे दिन का समय था। अंग्रेज़ और भारतीय अफ़सरों का एक दल अकस्मात् जहाज़ पर जा चढ़ा और यात्रियों को आज्ञा दी कि जहाज़ से उतर कर सीधे रेल में जा बैठें। यात्री हक्का-बक्का रह गये। अधिकांश ने विरोध किया। लेकिन उन्हें ढकेल-ढकेल कर नीचे उतार दिया गया। केवल १७ यात्री ख़ुशी-ख़ुशी उतरे और गाड़ी में जा चढ़े। शेष ज़बरदस्ती उतारे गये। यात्रियों ने श्री गुरुग्रन्थ साहब को आगे करके अपना जलूस बनाया और रेलगाड़ी में जाकर बैठने की बजाय कलकत्ता की ओर पैदल चल दिये।

पंजाब के पुलिसमैनों की एक टोली उनके पीछे-पीछे चली। बाबा गुरुदत्त सिंह और उनके साथियों का इरादा था कि सबसे पहले तो वह श्री गुरुग्रन्थ साहब को ससम्मान गुरुद्वारे में प्रतिष्ठापित कर दें और उसके बाद बंगाल के गवर्नर अथवा अन्य किसी बड़े अधिकारी से मिलें। वे चाहते थे कि उसके सम्मुख वे अपनी शिकायतें रखें और किसी वकील की सलाह से स्टीमर के एजेण्ट के साथ आर्थिक पक्ष को लेकर जो मत-भेद था, उसे भी तय करलें। कौमा-गाता-मारू जहाज़ में उनका जो बचा-खुचा सामान था, वे उसे भी बेच-बाच कर मुक्ति पा लेना चाहते थे। एक बार पंजाब चले जाने पर इनमें से कोई एक भी बात न हो सकती थी। और फिर पंजाब में रखा ही क्या था? यदि पंजाब में ही उनके लिए सुखपूर्वक जीने की सुविधा होती तो वे इतना जोखिम उठाकर विदेश जाने का प्रयत्न ही क्यों करते? बहुत से लोग कलकत्ते में ही कोई काम ढूँढ़ना चाहते रहे होंगे।

अभी तक पंजाबी पुलिस उनके पीछे-पीछे चल रही थी, और वे कलकत्ते की ओर बढ़े चले आ रहे थे। कोई पाँच-छः मील गये होंगे कि उधर से बृटिश पुलिस का दस्ता आया। उसने उन्हें तुरन्त वापस मुड़ने की आज्ञा दी। अनिच्छा पूर्वक उन्हें उनकी आज्ञा माननी पड़ी। सिखों ने अपना मुँह पीछे की ओर कर लिया। वे थके थे, प्यासे थे; वहीं रुककर थोड़ा पानी पीना चाहते थे। बृटिश पुलिस उन्हें ठोकर मारती थी। वह समझती थी कि लोग प्यास का बहाना बना रहे हैं।

ये यात्रियों की मण्डली पूर्व अवस्था के अनुसार बज-बज रेलवे स्टेशन पर चलने को तैयार थी, किन्तु अब बृटिश पुलिस का कहना था कि उन्हें वापस जहाज़ में चलकर रात भर के लिए क़ैद रहना होगा। यह किसी को पसन्द नहीं था। संध्या का समय होने से सभी सिख गुरुग्रन्थ साहब के चारों ओर पाठ करने के लिए बैठ गये। चौबीस परगना के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने बाबा गुरुदत्त सिंह को बुला भेजा ताकि वह उन्हें जहाज़ में वापस जाकर क़ैद होने की सरकारी आज्ञा सुना दें।

बाबा गुरुदत्त सिंह पाठ छोड़कर कैसे जा सकते थे। एक पुलिस सारजेण्ट

और एक बृटिश सुपरिंटेण्डेण्ट ने ज़बरदस्ती बाबा गुरुदत्त सिंह को घसीट ले जाने की चेष्टा की। दोनों ने अपने किये का फल पाया। एक जख़्मी हुआ और दूसरा तो बाद में मर ही गया।

इसके बाद वहाँ गड़बड़ी मच गयी। सरकारी पक्ष का कहना है कि दोनों ओर से खूब गोली चली। किन्तु यदि दोनों ओर से खूब गोली चलती तो सरकारी पक्ष की मृत्यु संख्या केवल दो ही न होती। सरकार के अपने बयान के अनुसार सिखों की मृत्यु-संख्या बीस थी, जो निश्चय ही इससे अधिक रही होगी।

उस रात के अंधेरे में जिधर जो भाग सकता था, भाग निकला। लेकिन सभी सड़कों और रेल के रास्तों पर पुलिस का भयानक पहरा था। २११ आदमियों को पुलिस पकड़ने में सफल हो गयी। कोई २८ आदमियों के साथ बाबा गुरुदत्त सिंह भाग निकले।

ऐसी विकट परिस्थिति में भी उन्होंने गोलियों से छिदे श्री गुरुग्रन्थ-साहब को और अपने सबसे छोटे पुत्र बलवन्त सिंह को सुरक्षित स्थान में पहुँचा दिया।

बज-बज से भाग निकलने के बाद बाबा गुरुदत्त सिंह की कहानी भारतीय वाङ्मय की अमर कहानी है, जिसे उन्होंने स्वयं पंजाबी में पुस्तक-रूप में लिखा है। १६२४ के आस-पास इन पंक्तियों के लेखक ने उसे तिगुने मूल्य पर अमृतसर की एक दुकान से लुक-छिप कर ख़रीदा था। सरकार ने वह कहानी तक ज़ब्त कर ली थी।

लगातार सात वर्ष तक पुलिस की आँखों में धूल झोंकते हुए बाबा-गुरुदत्त सिंह जहाँ से तहाँ घूमते रहे और एक दिन महात्मा गांधी के आदेशानुसार उन्होंने ननकाना साहब में—गुरुनानक देव की जन्मभूमि में—अपने आपको पुलिस के हवाले कर दिया।

पुलिस ने बिना किसी प्रकार का मुक़दमा चलाये बाबा गुरुदत्त सिंह को जेल में बन्द कर दिया। एक वर्ष के बाद छोड़ा। किन्तु फिर एक भाषण देने के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया।

१६२७ में बाबा गुरुदत्त सिंह बाहर आये तो देखा कि सरकार ने उनका सारा माल-मता जो कुछ भी उन्हें कौमा-गाता-मारू जहाज़ पर मिला, ज़ब्त कर लिया है।

बाबा गुरुदत्त सिंह ने सरकार के ख़िलाफ़ एक मुक़दमा दायर किया जिसका फ़ैसला उन्हीं के विरुद्ध हुआ।

बाबा गुरुदत्त सिंह को सरकार जितना दरिद्र बना सकती थी, बनाया।

कदाचित् अपने देशवासियों के लिए कुछ कर गुज़रने की इच्छा की यही क़ीमत थी।

बाबा गुरुदत्त सिंह ने उसे पूरा-पूरा चुकाया।

कहाँ रहोगे, कहाँ जाओगे ?

यह असम्भव नहीं है कि किसी को तुम प्रति दिन देखा करो और उसके विषय में कुछ भी न जान पाओ। यह अनुभव मुझे अभी एक सोलह-सत्रह वर्ष के लड़के श्री ओन्सेन के बारे में हुआ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक शाखा दिल्ली में खुल जाने के कारण मुझे इधर पहले से भी अधिक दिल्ली आना-जाना पड़ता है। ठहरना सदा की भाँति बौद्ध विहार में ही होता है। वहाँ मैं एक लड़के को देखता रहा हूँ—नाम ऊपर दिया है ओन्सेन।

इस बार मैं प्रातः, मध्याह्न, सायं जब कभी बाहर से विहार लौटा तो ओन्सेन को मन्दिर के इधर-उधर कहीं न कहीं कुछ पढ़ते पाया। ध्यान आकर्षित हुआ। देखा हिन्दी की कोई मासिक पत्रिका पढ़ रहा है।

"सब समझते हो?" मैंने साधारण प्रश्न किया।

"जो-जो नहीं समझता हूँ, उस पर निशान लगा लेता हूँ।"

"दिल्ली में इस बार तीन-चार दिन ठहरूँगा। जिन-जिन शब्दों का अर्थ नहीं आता, सब बता दूँगा।"

ओन्सेन प्रसन्न हुआ।

एक दिन ओन्सेन अर्थ-शास्त्र की कोई पुस्तक पढ़ रहा था। कठिन शब्द उसकी कापी में लिखे थे। वह उस पुस्तक को समझ कर हिन्दी और अर्थ-शास्त्र का ज्ञान एक साथ प्राप्त करना चाहता था। मैंने समझा-समझा कर एक दो पृष्ठ पढ़ाये। शाम को फिर पढ़ाने का आश्वासन दे काम से बाहर निकला। दोपहर का गया अगले दिन शाम को वापस लौट सका। ओन्सेन को दिया वचन याद था। मुझे अच्छा नहीं लगा।

रात होने पर वह दो एक समाचारपत्र ले मेरे पास आया। बोला—"'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित पंडित जवाहरलाल नेहरू के वैशाख पूर्णिमा के दिन प्रकट किये गये विचारों को बर्मी पत्रों को भेजना चाहता हूँ।" मैंने उसे वे अंश समझा कर पढ़ा दिये और उनका संक्षिप्त रूप सरल हिन्दी में लिखवा भी दिया जिससे वह आसानी से बर्मी में अनुवाद कर सके।

जिस भाषा को वह अभी अच्छी तरह समझ भी नहीं सकता, उससे अपनी भाषा में अनुवाद करके अपने देश के पत्रों को समाचार भेजता है।

मैंने तय किया कि कल समय निकाल कर मैं इसे समझाने का प्रयत्न करूँगा।

६ मई को प्रातःकाल मुझे दिल्ली छोड़ देनी थी। पाँच तारीख़ की संध्या को सब कामों से छुट्टी पा कर हम दोनों जैसे-तैसे कुछ समय निकाल सके।

मैंने पूछा—"ओन्सेन, क्या तुम बता सकते हो कि तुम्हारा जन्म कब हुआ?"

"सन् १९३२ में। दिन बृहस्पतिवार था, महीना याद नहीं।"

"तुम्हारा जन्म-स्थान?"

उसने बर्मा का मानचित्र दिखा कर बताया—"पिन्मना!"

घर की आर्थिक-स्थिति जानने की दृष्टि से मैंने पूछा—"घर पर और तुम्हारे भाई-बहन, माता-पिता ?"

"हमारे घर में मेरी तीन बहनें थीं, दो बड़ी, एक छोटी। पिता पन्द्रह रुपये माहवार पर रेलवे में फ़िटर थे। हम लोग माता जी के साथ पाँच जने रेलवे क्वार्टर में रहते थे और जगह-ज़मीन कुछ नहीं।"

पाँच जने और पन्द्रह रुपये मासिक की आमदनी !

"ओन्सेन ! तुम्हें अपने बचपन की छोटी से छोटी आयु की कोई बातें याद हैं ?"

"हम लोग छोटे थे तो एक भारतीय साधु के पीछे एक-एक पैसे के लिए, एक-एक मील तक भागे चले जाते थे। वह कभी-कभी पैसा दे देता था, बहुधा झिड़कियाँ। और घर से दाल-चावल ले जा कर जंगल में कच्चा-पक्का पका कर खाना भी हमें अच्छा लगता था।"

"तो तुम स्कूल में कब गये ?"

"ठीक याद नहीं। शायद पाँच वर्ष की आयु में। एक प्राइमरी स्कूल था। पढ़ानेवाली एक औरत थी, दो-तीन महीने ही पढ़ा।"

"तब क्या करने लगे ?"

"कुछ नहीं, कोई दो वर्ष गुड्डी उड़ाने और लट्टू घुमाने में ही गुज़ार दिये।"

"तब क्या फिर कुछ पढ़े ही नहीं ?"

"उस समय पिन्मना से स्वा रेलवे स्टेशन पर पिता का तबादला हो गया। माता-पिता दोनों स्वा चले गये। सारा परिवार गया। वहाँ मैं एक बौद्ध विहार (फुँजी-चाँव) में पढ़ने लगा।"

"वहाँ तुम्हारी दिन भर क्या चर्या रहती थी ?"

"चार बजे उठ कर दूसरे लड़कों के साथ विहार के लिए भिक्षा-लेने जाना। लौट कर बरतनों को धो-माँज कर भन्ते लोगों को भोजन कराना। भन्ते लोगों के भोजन के समय कण्ठस्थ पाठ सुनाना पड़ता था। जलपान के बाद नौ बजे तक पढ़ाई। फिर भिक्षा में भन्ते लोगों के साथ जाना।

भोजनान्तर भन्ते लोग थोड़ा विश्राम करते थे। महास्थविर लेटे-लेटे पाठ सुनते थे। याद न होने पर कभी-कभी बहुत पीटते भी थे। बर्मा में पाठ याद न होने पर पीटने को बुरा नहीं समझा जाता। हाँ, मैंने अधिक बार मार नहीं खायी।"

"तो तुमने चौंव में रह कर क्या पढ़ाई की?"

"मैं पाली ही पढ़ता रहा। चौंव में पाली ही पढ़ाई जाती है। मैंने पाली पाठावलि के पाँच भाग समाप्त किये।"

"तो आगे पढ़ाई क्यों नहीं जारी रखी?"

"मेरी नौ वर्ष की आयु रही होगी। उस समय मेरी माँ, पिता जी से असन्तुष्ट हो कर उनके छोटे भाई अर्थात् मेरे चाचा के पास चली गयीं; स्वा से तीन मील दूर तागमा। मेरे पिता ब्रह्मपुर (उड़ीसा) के पास के ब्राह्मण थे। उनकी शादी वहाँ (भारत में) हो गयी थी। किन्तु मेरे चाचा की शादी शायद नहीं हुई थी। मेरे चाचा ने मुझे और मेरी माँ को कुछ समय रखा।"

"वहाँ तुम कुछ नहीं पढ़े?"

"वहाँ मैं बर्मी बुद्धिस्ट प्राइमरी स्कूल में पढ़ा। पहली-दूसरी क्लास पास की। वहाँ फ़ीस नहीं लगती थी।"

"और पुस्तकें?"

"पुस्तकें क्या—एक स्लेट, एक किताब।"

"तो आगे पढ़ाई क्यों नहीं जारी रही?"

"दस वर्ष की आयु हो गयी होगी। फिर माता जी पिता जी के पास स्वा चली गयीं। मुझे भी जाना पड़ा। वहाँ फिर चौंव में पढ़ने गया।"

"कितने दिन पढ़े?"

"कितने दिन? शायद एक वर्ष। तब तक जापानी आक्रमण हो गया। हम सभी स्वा से पिन्मना भागे। पिन्मना से ताज़ी, ताज़ी से माण्डले, माण्डले से जैंगाइन, जैंगाइन से नव्वा। नव्वा से पैदल भागना पड़ा। कलेवा, मचीना, टम्मु, नागा हिल—सब पैदल किया। नागा हिल में पिता जी ऐसे बीमार हो गये कि हम को यह भी पता नहीं लगा कि वे जीवित हैं अथवा मर गये।

माँ, तीनों बहनें और मैं उन्हें छोड़ कर चल दिये।"

मैंने देखा कि ये अन्तिम वाक्य लड़के ने बड़ी ही वेदना से व्यक्त किये। किन्तु उसने कथा जारी रखी—"वहाँ से मणिपुर पहुँचे। मणिपुर में पन्द्रह दिन रहे। मणिपुर में पिता जी फिर आ मिले। मणिपुर से डीमापुर मोटर से। डीमापुर में आकर पिता जी का देहान्त हो गया।"

"डीमापुर से आगे तुम कहाँ गये ?"

"डीमापुर से पता नहीं हमें रेल से कहाँ ले जाया गया। किन्तु जहाँ हम पहुँचे, वहाँ महात्मा गांधी का जहाज़ खाने-पीने के साथ आया। हम असम पहुँचे। असम से कलकत्ता।"

"कलकत्ते में कहाँ रहे ?"

"कलकत्ते में हिन्दू कैम्प और मुस्लिम कैम्प बने हुए थे। हमें हिन्दू कैम्प में रखा गया। वहाँ खाना, कपड़ा, दवाई, सब कुछ मिला। फिर हम लोगों से पूछा गया—"कहाँ रहोगे, कहाँ जाओगे ?"

"ब्रह्मपुर," हम लोगों ने उत्तर दिया।

चारों प्राणियों ने सोचा कि ब्रह्मपुर में पिता जी का घर ढूँढ़ लेंगे। ब्रह्मपुर मिला, किन्तु ब्रह्मपुर में पिता जी का घर नहीं मिला। वहाँ छोटी बहन का शरीरान्त हो गया। घर से छः प्राणी भागे थे, चार रह गये। लड़के की कहानी गीली हो चली।

"ब्रह्मपुर से हम उड़ीसा के दूसरे स्थानों में घूमते रहे। रेलों में कोई न कोई बर्मी मिल जाते थे। मदद कर देते थे। इसी प्रकार घूमते-घूमते असम के पार्वतीपुर आ पहुँचे। वहाँ भी एक कैम्प में रहे।"

कैम्प के मैनेजर ने पूछा—"कहाँ रहोगे, कहाँ जाओगे ?"

"कलकत्ता।"

कैम्प के मैनेजर ने कलकत्ते भेज दिया।

"कलकत्ते में हम दस-पन्द्रह दिन मद्रास कैम्प में रहे। एक दिन मैं सैर करने निकला। एक बूढ़े मुसलमान ने बर्मी बौद्ध विहार (फूँजी चाँव) का पता दिया। हम लोग वहाँ पहुँचे। दुखी भी थे, सुखी भी।"

"बर्मी बौद्ध विहार में कितने दिन रहे ?"

"अधिक नहीं। भिक्षुओं ने हमें बनारस कैम्प भेज दिया। वहाँ मैं प्राइमरी स्कूल में भर्ती हुआ। क, ख, ग पढ़ना आरम्भ किया।"

"वही प्राइमरी स्कूल जो बरामदे में लगता है न ?"

"हाँ, वही। किन्तु वहाँ केवल एक दर्जा पढ़ पाया। वहाँ से बनारस के आदर्श विद्यालय में भर्ती किया गया। आदर्श विद्यालय में दो दर्जे पढ़ा।"

"उस समय खाने-पीने की क्या व्यवस्था थी ?"

"हम चारों जनों के लिए सरकार से पचास रुपये प्रति मास मिलते थे।"

"तब ?"

"तब क्या ? बनारस से हम लोग कुशीनगर गये। माता जी कैम्प में नहीं रहना चाहती थीं। वहाँ भदन्त कित्तिमा जी के प्रयत्न से बिड़ला-जी के यहाँ से चालीस रुपये या पचास रुपये मासिक मिलने लगे। मुझे कुशीनगर के प्राइमरी स्कूल में भर्ती कर दिया गया। ।"

"तुम तो बनारस के आदर्श विद्यालय (मिडिल स्कूल) में पढ़ चुके थे ?"

"हाँ, वही पढ़ाई फिर प्राइमरी स्कूल में की। एक ही वर्ष में दो-तीन दर्जे पढ़कर हाई स्कूल में भर्ती हो गया। हाई स्कूल में मुझे पाँचवें दर्जे में भर्ती किया गया।"

"हाई स्कूल में कब तक पढ़े ?"

"वहाँ भी कहाँ पढ़ना मिला। कुशीनगर से फिर सुरिया भन्ते के पास बनारस चले आये। बर्मी सरकार से दुबारा पचास रुपये मासिक मिलने लगे। मैं बनारस के जनता राष्ट्रीय विद्यालम में भर्ती हुआ।"

"राष्ट्रीय विद्यालय में क्या-क्या सीखा ?"

"अंग्रेज़ी, हिन्दी, चर्खा चलाना। तीन वर्ष में सातवाँ दर्जा पास किया।"

अब जापान की हार हो गयी थी। बर्मी लोग वापस अपने देश लौट रहे थे। ओन्सेन अपनी दोनों बहनों तथा माता जी के साथ बर्मा लौट गया।

बर्मा में दो बहनों की शादी हो गयी। ओन्सेन और उसकी माता जी दो प्राणी रह गये।

अपनी बहनों की शादी के सिलसिले में ओन्सेन ने कहा—"बर्मा में शादी मामूली बात है। वहाँ शादी पर विशेष खर्चा नहीं होता। यहाँ भारत में तो शादी पर बहुत पैसा बर्बाद होता है।"

सन् १९४८ में ओन्सेन की माता जी ने दूसरी शादी कर ली। यह सज्जन जिनसे शादी हुई लोको शैड के कोई क्लर्क थे।

"तब बर्मा में तुमने फिर अपनी पढ़ाई शुरू की होगी ?"

"नहीं, बर्मा में मैं पढ़ नहीं सका। पढ़ना चाहता था, किन्तु माता-पिता की ग़रीबी के कारण काम करना पड़ता था। किसी न किसी व्यापारी का सहायक बनकर एक जगह से दूसरी जगह जाता। व्यापारियों के साथ घूमने में मन नहीं लगता था, किन्तु मजबूर था। जो पैसा कमाता, अधिकांश में खर्च हो जाता। पैसे का अपव्यय भी होता। थोड़ा माता-पिता को दे पाता।"

अब बर्मा स्वतन्त्र हो गया था। एक ओर कम्युनिस्टों और दूसरी ओर करीन लोगों के समाचार आने आरम्भ हुए।

मैंने पूछा—"ये करीन लोग कौन होते हैं ?"

ओन्सेन ने बताया—"करीन पर्वत के ईसाई लोग हैं। वे यहाँ के मुसलमानों की तरह देश का एक हिस्सा अपने लिए पृथक् चाहते हैं।"

"अब आगे की कथा कहो।"

"सन् १९४९ में ४ फ़रवरी को मैं थाजी गया। वहाँ ग्यारह दिन रहा। उत्तर से करीन लोग आ पहुँचे। उन्होंने थाजी को जीत लिया। हम लोग उनके क़ब्ज़े में थे। उन्होंने पूछा— तुम कौन हो ? हमने बताया कि हम रेल में काम करनेवाले हैं। वे हमें रेलवे वर्कर समझ रेल में बिठाकर ले गये। पिता जी के साथ रहते-देखते मैं कुछ-कुछ फ़िटर का काम सीख गया था। मुझसे बीस दिन तब करीनों ने फ़िटर का काम लिया।"

"तब ?"

"तब मुझे 'माता' निकल आयी। अंग्रेज़ी मिलिटरी हास्पिटल पर करीनों

का कब्ज़ा था। उन्होंने मुझे वहाँ भेज दिया। एक सप्ताह में अच्छा हुआ। जिस दिन अच्छा हुआ, उसी दिन करीन लोग हार गये। उस समय ऑल-बर्मा इण्डियन कांग्रेस के लोगों ने मुझ से आकर पूछा—"कहाँ रहोगे, कहाँ जाओगे?" लोग शान-स्टेट की ओर जा रहे थे। मैं भी उनके साथ चला गया। शान-स्टेट में टानजी शहर में रहा। वहाँ से एक मुसलमान व्यापारी के साथ लोइलिन चला गया। लोइलिन में चार महीने रहा। वहाँ मुझे कांग्रेस के कर्नल देव का भाषण सुनने को मिला। उसे सुनकर और उनसे कह कर कांग्रेस पार्टी के नाम एक चिट्ठी लेकर टानजी गया। १० अगस्त को हैवो एरोड्रोम।"

ओन्सेन ने अपनी छोटी-सी डायरी निकाल कर उसमें से समय और स्थान की प्रामाणिक सूचना देनी आरम्भ की—

"ढाई बजे रंगून के लिए प्रस्थान। साढ़े छः बजे मैगलाडोम एरोड्रोम। साढ़े सात बजे रंगून।"

"तुम फिर बर्मा से भारत की ओर क्यों चले आये?"

"मैंने शान-स्टेट में रहते समय घर जाने के बहुत प्रयत्न किये। असफल रहा। सोचा, भारत चलकर पढ़ सकूँगा। इसीलिए फिर भारत चला आया।"

"तो रंगून से कब चले?"

"रंगून से २० अगस्त को साढ़े बारह बजे चल कर २४ अगस्त को कलकत्ता। कलकत्ता से २४ अगस्त को बनारस बर्मी रैस्ट हाउस, सारनाथ।"

"तो फिर सारनाथ पहुँच गये?"

"हाँ सारनाथ पहुँचने पर मुझ से पूछा गया—'कहाँ रहोगे? कहाँ जाओगे?"

"मैं क्या उत्तर देता। मुझे यहाँ दिल्ली विहार में काम करने के लिए भेज दिया है। मैं पढ़ना चाहता हूँ। काम से जब-जब छुट्टी मिलती है, पढ़ता हूँ। नाइट स्कूल में भी पढ़ना चाहता हूँ किन्तु वहाँ फ़ीस लगती है।"

"ओन्सेन, तुम्हें जिस स्कूल में पढ़ने को मिला है, उस स्कूल में पढ़ने का

सब को सौभाग्य नहीं होता। तुम जीवन के स्कूल में पढ़े हो और अच्छी तरह पढ़े हो। मुझे इसमें कुछ संदेह नहीं कि तुम अब शीघ्र ही स्कूली पढ़ाई भी कर लोगे। मुझ से जो कुछ बन सकेगा, करूँगा।"

"मैं चाहता हूँ कि मैं अब यहीं रह कर कुछ पढ़-लिख लूँ, अब मुझ से फिर कोई यह न पूछे—"तुम कहाँ रहोगे, कहाँ जाओगे ?"

"पढ़-लिख कर तुम क्या करना चाहते हो ?"

"डाक्टर या लेखक बनना।"

"तुम दोनों बन सकते हो।"

वार्ता समाप्त करते हुए मैंने पूछा—"ओन्सेन ! तुम्हारी माता का क्या हाल है ? कुछ पत्र-वत्र आता है ?"

"वह नहीं जानती कि मैं जीवित भी हूँ अथवा नहीं, और मैं भी नहीं जानता कि वह भी जीवित है या नहीं।"

लड़के के अकेलेपन ने जैसे मुझे कँपा दिया।

बच्चों का साम्यवाद

★

१८ जनवरी का पूर्वाह्न। वर्धा में कांग्रेस-अध्यक्ष बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के स्वागत की दो जगह तैयारियाँ—एक नगर में, दूसरी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा हिन्दी नगर में। शहर में कांग्रेस कमेटी और जनपद सभा का आयोजन और समिति में समिति के कार्यकर्ताओं का।

समिति के एक कार्यकर्ता को नगर में माइक्रोफ़ोन द्वारा मुनादी करने के लिए भेजा गया कि श्रद्धेय बाबू जी के हिन्दी नगर में आने की वार्ता को प्रचलित कर आये। वह हिन्दी नगर की ओर से प्रचार कार्य में व्यस्त था। थोड़ी देर में हमारे टेलीफ़ोन पर बैठने वाला तेरह वर्ष का रामकिशोर दौड़ा-दौड़ा आया और बोला—"शिवराज जी चूड़ीवाले (स्थानीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष) का फ़ोन आया है। आपने जिस आदमी को शहर में मुनादी करने के लिए भेजा है वह तो 'समाजवादी' है। 'समाजवादी' को हिन्दी का प्रचार नहीं करना चाहिए। उसे रोकें।"

मैंने कहा—"चलो, मैं फ़ोन पर आता हूँ।"

वह बोला—"अब तो वे चले गये।"

"अच्छा, चले गये तो चले गये।"

दिन का सारा कार्यक्रम अच्छी तरह से हो गया। नागपुर से वर्धा के रास्ते में होने वाला स्वागत सत्कार बाबू जी के बिलम्ब से पहुँचने का अतिरिक्त कारण हुआ। थोड़े समय में हिन्दी नगर में राष्ट्रभाषा महाविद्यालय का शिलान्यास भी हो गया; सार्वजनिक सभा भी हो गयी और मश्रुवाला जी से तथा विनोबा जी से मिलना भी हो गया। वर्धा आकर बापू की कुटिया न जाना बाबू जी को ऐसा ही लग रहा था जैसा प्रयाग जाकर त्रिवेणी स्नान न करना। समय की अत्यंत तंगी रहते भी, जैसे-तैसे वहाँ भी हो आये। शाम को ही वह वर्धा से नागपुर चले गये और नागपुर से रात को ही रायपुर की ओर। बाबू जी का खाँसी-जुकाम और बैठा हुआ गला और यह दिन-रात की यात्रा! लोकाराधना का धर्म ऐसा ही विकट है!

शाम को मैं दिन भर की चिन्ता से मुक्त कुछ ओहित-भार होकर जब चारपाई पर लेटा तो रामकिशोर को अपनी जिज्ञासा मिटाने का अवसर हाथ लग गया। बोला—"स्वामी जी! यह सोशलिस्ट पार्टी क्या चीज़ है?"

"क्यों?"

"सुबह शिवराज चूड़ीवाले कहते थे कि 'तुर्क' सोशलिस्ट है। उसे हिन्दी का प्रचार नहीं करना चाहिए! सोशलिस्ट को हिन्दी का प्रचार क्यों नहीं करना चाहिए?"

मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि मैं रामकिशोर को कैसे क्या समझाऊँ। तब तक उसने पूछा—"और स्वामी जी! यह 'कम्युनिस्ट' क्या होते हैं?"

मैंने तय किया कि आज मैं इसे समझाने की कोशिश करूँगा। बोला—"रामकिशोर सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट का भेद बाद में समझ आयेगा। अभी ऐसा मान लो कि दोनों एक ही होते हैं।"

वह चुप रहा। मैं सोचने लगा कि आखिर एक का भी परिचय कैसे दूँ? मैंने कहना शुरू किय—

"रामकिशोर! आज राधाकृष्ण बज़ाज़ (गांधी सेवा संघ के एक प्रमुख कार्यकर्ता) मिले थे। कह रहे थे कि और शहरों में तो दूध मिलता नहीं

हमारे यहाँ की समस्या यह है कि दूध बिकता नहीं। उनका दूध क्यों नहीं बिकता ?"

रामकिशोर इसका उत्तर न सोच सकता था, न दे सकता था। तब मैंने ही आरम्भ किया...

"क्या इस शहर में सब लोगों को दूध पीने को मिलता है ? अपने हिन्दी नगर में ही सब को मिलता है ?"

"नहीं।"

"गोरस भण्डार में इतना दूध रहता है, लोग खरीद क्यों नहीं लेते ?"

"लोगों के पास पैसे नहीं ?"

"तब गोरस भण्डार वाले लोगों को यूँ ही क्यों नहीं दे देते ?"

"उन्हें भी पैसे चाहिए।"

"यदि वे जिन लोगों को दूध चाहिए, उन लोगों को यूँ ही दूध देने लगें, तब भी क्या उनके पास दूध बचेगा ?"

"नहीं।"

"तब यदि वे अपना दूध खत्म करना चाहते हैं, तो लोगों को यूँ ही क्यों नहीं पिला देते ?"

"वे लोगों को दूध थोड़े ही पिलाना चाहते हैं, वे उसे बेचकर पैसे कमाना चाहते हैं।"

"हाँ, गउओं को घास खिलाने के लिए पैसे चाहिए ही। गोरस भण्डार वाले अधिक महँगा दूध बेचकर अधिक पैसे नहीं कमाना चाहते, किन्तु खर्चा तो निकालना होगा ही। वह नहीं निकालेंगे तो दूसरे दिन दूध कहाँ से आयेगा ?"

"तब उनका दूध बच क्यों रहता है ?"

"बच इसलिए रहता है कि वे जिस भाव दूध बेचना चाहते हैं, उस भाव दूध खरीदने के लिए अधिक लोगों के पास पैसे नहीं, और जिस भाव लोग खरीद सकते हैं, उस भाव बेचने से उन्हें पुराता नहीं।"

"तब इसका मतलब यह हुआ कि दूध भी है, खरीदने वाले भी हैं,

किन्तु तब भी दूध बिकता नहीं?"

"हाँ, इसका मतलब यही है कि दूध भी है, खरीदने वाले भी हैं, तब भी दूध बिकता नहीं। एक ओर दूध बिना बच्चे बिलखते हैं और दूसरी ओर दूध न बिकने से दूध बेचने वाले हैरान हैं।"

"तो इसका कोई इलाज नहीं?"

"इलाज है, किन्तु तुम अभी नहीं समझ सकोगे। इसलिए एक-दो बातें और सुनो।

"अच्छा।"

"तुम यह जानते हो कि कपड़ा कहाँ बनता है?"

"कारख़ाने में।"

"और बिकता कहाँ है?"

"दुकान पर।"

"दुकान पर कपड़ा कहाँ से आता है?"

"कारखाने से।"

"क्या तुम नहीं देखते कि आजकल दुकानों में काफ़ी कपड़ा पड़ा रहता है?"

"हाँ।"

"तो क्या इन सर्दी के दिनों में भी किसी को कपड़े की ज़रूरत नहीं?"

"क्यों नहीं?"

"तब लोग इन दुकानों से यह कपड़ा ले क्यों नहीं लेते?"

"लोगों के पास पैसा नहीं।"

अब यदि लोग पैसा न होने से कपड़ा (और कपड़े की तरह के ही दूसरे कारख़ानों में बनने वाले सामान) न ख़रीद सकेंगे, तब क्या दुकानों पर माल का ढेर नहीं लग जायगा?"

"लग जायगा।"

"जब दुकानों पर माल का ढेर लग जायगा, तब भी क्या कारख़ाने वाले माल बनवाते रहेंगे?"

"नहीं।"

"कारख़ानों में माल कौन बनाता है?"

"मज़दूर।"

"जब कारख़ानों में माल नहीं बनेगा, तब मज़दूर बेकार नहीं हो जायेंगे?"

"हाँ, हो ही जायेंगे।"

"तब क्या कारख़ाने के मालिक लोग उन मज़दूरों को बिना काम कराये पगार (मज़दूरी) देते रहेंगे?"

"कैसे देंगे?"

"जब मज़दूरों को मज़दूरी नहीं मिलेगी, तब भी क्या वह कारख़ानों में बना माल ख़रीद सकेंगे?"

"खाने को ही नहीं होगा तो माल कहाँ से ख़रीदेंगे!"

"देखो, जो हाल दूध का हुआ, वही कपड़े का भी हो गया। माल है, लोगों को उसकी ज़रूरत भी है, किन्तु लोग ख़रीद नहीं सकते। माल है, लोग बेचना भी चाहते हैं, किन्तु बेच नहीं सकते। और फिर बोलो, जब लोगों को खाने को भोजन नहीं मिलेगा और तन ढकने को कपड़ा नहीं मिलेगा, तो क्या होगा?"

"लोग ठंड से ठिठुर-ठिठुर कर मरेंगे।"

"हाँ, तुम्हारा कहना बिलकुल सही है।"

"तो क्या इसका कोई इलाज नहीं?"

"है, किन्तु शायद अभी भी न समझ पाओ। इसलिए एक-दो बातें और सुनो।"

"सुनाइए।"

"यह बताओ कि जितने दुकानदार अपनी दुकान लिये बैठे हैं और जितने कारख़ाने वाले अपने-अपने कारख़ाने चलाते हैं, वे ऐसा क्यों करते हैं?"

"पैसे के लिए।"

"उनके पास पैसा कैसे आता है?"

"मैं क्या बताऊँ, कैसे आता है ?"

"दुकानदार थोड़े रुपयों में सामान ख़रीदता है, ज़्यादा में बेचता है। बीच में मुनाफ़ा लेता है। कारख़ाने वाला थोड़े दाम में माल तैयार करता है, ज़्यादा में बेचता है, बीच में मुनाफ़ा कमाता है।"

"तो दुकानदार और मिल-मालिक सब मुनाफ़े के लिए ही दुकान खोलते और कारख़ाना चलाते हैं ?"

"हाँ।"

"यदि उन्हें 'मुनाफ़ा' न हो तो यह अपनी दुकान और कारख़ाने बन्द कर देंगे ?"

"हाँ, या अपनी दुकान और कारख़ाने बन्द कर देंगे या दूसरी-दूसरी चीज़ की दुकान और कारख़ाने चलायेंगे।"

"तो इसका मतलब यह हुआ कि ये सब लोग जो कुछ करते हैं वह मुनाफ़े के लिए ही करते हैं।"

"हाँ, ज़्यादातर देशों में सारा व्यापार, सारे कारख़ाने मुनाफ़े के लिए ही चलते हैं।"

"कहीं नहीं भी चलते हैं।"

"जिन देशों में 'साम्यवाद' का चलन हो गया है वहाँ मुनाफ़ा लेना बंद कर दिया गया है, जैसे रूस में और चीन में।"

"वहाँ क्या होता है ?"

"वहाँ कोई आदमी रुपया 'सूद' पर देकर बैठा-बैठा मौज नहीं उड़ा सकता। वहाँ कोई आदमी मकान किराये पर देकर बैठा-बैठा मक्खियाँ नहीं मार सकता। वहाँ कोई आदमी सस्ते दामों अनाज ख़रीद कर महँगा नहीं बेच सकता। वहाँ कोई आदमी एक कारख़ाने में सैकड़ों मज़दूरों से काम कराकर स्वयं करोड़पति नहीं बन सकता।"

"तो उन देशों में सब आदमियों को काम रहता होगा, सबको खाना-कपड़ा मिलता होगा ?"

"हाँ, वहाँ सबको काम रहता है, सबको खाना-कपड़ा मिलता है। पहले

वहाँ भी हमारा जैसा ही हाल था लेकिन जब से साम्यवाद आया, तब से वहाँ न कोई बेकार है, न कोई मुफ़्तखोर है। हर काम करने वाले को खाना-कपड़ा मिलता है और बिना काम किये किसी को कुछ नहीं मिलता।"

"अपने देश में भी ऐसा हो सकता है?"

"हाँ, क्यों नहीं हो सकता है?"

"अगर ऐसा हो जाय तब फिर शायद जितना दूध होगा, सब दूध पीने वालों को मिल जाया करेगा; जितना कपड़ा बनेगा, सब पहनने वालों को मिल जाया करेगा, जितना अन्न पैदा होगा वह सब खाने वालों को मिल जाया करेगा।"

"हाँ।"

"तो स्वामी जी! जमालुद्दीन तुर्क यही सब करने की कोशिश करता है?"

"हाँ।"

"तो स्वामी जी! इसे ही 'समाजवाद' या 'साम्यवाद' कहते हैं?"

"हाँ।"

रामकिशोर के मन में जमालुद्दीन तुर्क के लिए कुछ आदर का भाव पैदा हो गया।

अहिंसा—बौद्धों की दृष्टि में

आप रेल में चले जा रहे हों, अपने ध्यान में मग्न! बात किसी से करना चाहते हों या न करना चाहते हों। किसी को पता लग जाय कि आप 'बौद्ध' हैं तो तुरन्त यही एक प्रश्न पूछेगा—

"क्यों जी! भगवान बुद्ध ने तो 'अहिंसा परमो धर्मः' सिखाया था, यह कैसी बात है कि सुनते हैं कि बौद्ध लोग भी मांसाहारी होते हैं?"

स्वयं इन पंक्तियों के लेखक से यह प्रश्न इतनी अधिक बार पूछा गया है कि इस प्रश्न में कुछ भी दिलचस्पी नहीं रह गयी। ग्रामोफ़ोन रिकार्ड भी बार-बार बजाने से घिस ही जाता है। पिटे-पिटाये प्रश्न का पिटा-पिटाया उत्तर आख़िर कोई कब तक देता रहे? तो भी आज इसी प्रश्न की चर्चा करने जा रहा हूँ, किन्तु थोड़े विस्तार से।

यह कितने ही आश्चर्य की बात हो किन्तु जो बात सबसे पहले जान लेने की है, वह यह है कि सारे बौद्ध वाङमय में यह 'अहिंसा परमो धर्मः' कहीं आता ही नहीं। सुनता हूँ कि यह महाभारत का वचन है। मुझे ज्ञात होता तो मैं उसका प्रतीक नीचे दे देता। बौद्ध धर्म में अहिंसा का स्थान कम या बेश वैसा ही है जैसा बाद में मनुस्मृति-कार ने अपने धर्म के दस

लक्षणों में दिया है। स्थान विशेष पर हर ग्रन्थ में, हर धर्म विशेष का महात्म्य रहता ही है। बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलेगा ही।

एक दूसरी आपत्ति जो ऊपर के प्रश्न की तरह ही बहुधा उठायी जाती है, वह यह है कि भगवान बुद्ध की 'अहिंसा' की शिक्षा ने ही देश को असैनिक-वृत्ति का बना दिया और इसी से वह पराधीन हो गया। सिंहल में बौद्ध धर्म है। वह १८१५ ई० तक अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ता रहा। बर्मा में बौद्ध धर्म है। वह १८८५ ई० में कहीं जाकर पराधीन हुआ था। थाईलेण्ड में बौद्ध धर्म है। वह स्वतन्त्र देश है ही। जापान में अन्य धर्मों के साथ बौद्ध धर्म है। उसे एटम बम ही अभी कल अमरीका के आधीन कर सका। अहिंसक बने रहने के कारण पराधीन नहीं बना। न जाने भारत के हक़ में क्यों बौद्ध धर्म एक दम ज़हर, हलाहल सिद्ध हुआ। जिस समय यह देश पराधीन हुआ, उस समय बौद्ध धर्म यहाँ था कहाँ? एक बर्मी भिक्षु का कहना था कि भारत उस समय इसीलिए पराधीन हुआ क्योंकि यहाँ बौद्ध धर्म नहीं था। हम स्वयं देश की पराधीनता और स्वाधीनता के कारणों को उतना सरल नहीं समझते कि इस प्रकार एक और एक दो मान लिये जायँ। किन्तु जो लोग केवल राजनीति के हित में बड़ी ही ग़ैर-ज़िम्मेदारी से कह देते हैं कि बौद्धों की अहिंसा ने देश को पराधीन बनाया, वैसे लोगों के लिए बर्मी भिक्षु का उत्तर ही सही उत्तर है कि देश में बौद्धों का न होना ही उसकी पराधीनता का कारण हुआ था।

जो लोग किसी कारण से बौद्ध समाज की आलोचना ही आलोचना करना चाहते हैं, उनका यही एक काम है कि अपने देश के बौद्धों की 'अहिंसक' होने के कारण आलोचना करें और विदेशों के बौद्धों की अहिंसक न रहने के कारण आलोचना करें।

तो क्या बौद्ध 'अहिंसा' को नहीं मानते? मानते हैं, किन्तु बुद्धिवादी 'अहिंसा' को मानते हैं। यह बुद्धिवादी अहिंसा कैसी होती है? मैं बौद्ध-शास्त्रों तथा बौद्धों के आचरण से इस बुद्धिवादी अहिंसा को समझाने का प्रयत्न करूँगा।

अहिंसा और वानस्पतिक जीव

यह एक धार्मिक और वैज्ञानिक शास्त्रार्थ का पुराना प्रश्न है कि पेड़-पौधों में भी आदमी की तरह जीव होता है या नहीं? जीवन-हरियाली होना एक बात है और जीव होना दूसरी। वैज्ञानिक दार्शनिकों के सामने तो आज यह भी गम्भीर प्रश्न है कि आदमियों में भी जीव होता है या नहीं। हम मान लेते हैं कि आदमियों में होता है तो भी प्रश्न उठता है कि पेड़-पौधों में होता है या नहीं? अर्थात् पेड़-पौधों के काटने-छाँटने में हिंसा है अथवा नहीं? बौद्ध धर्म पेड़-पौधों के काटने-छाँटने में हिंसा नहीं मानता। पालि व्याकरण का एक सूत्र है—भक्खस्साहिंसाय—मौद्गल्यायन व्याकरण ॥१-८॥

इसका अर्थ है अहिंसार्थ में भक्ख धातु के साथ द्वितीया का निषेध होता है। प्रति-उदाहरण—कि भक्खमति बलि वद्दे सस्सं। यहाँ शस्य (सस्स) के साथ द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई। क्यों? क्योंकि यहाँ खेती की 'हिंसा' हुई। इस खेती की हिंसा की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि मिथ्या-दृष्टि वालों के मत में तो खेती की हिंसा हुई क्योंकि वे खेती में जीव मानते हैं और सम्यक दृष्टि के हिसाब से हिंसा इसलिए हुई क्योंकि खेत वाले की हानि हुई। इससे स्पष्ट है कि बौद्धों की दृष्टि ने पेड़-पौधों के काटने-छाँटने में कभी हिंसा को स्वीकार नहीं किया।

तो क्या भिक्षु भी यदि चाहें तो किसी पेड़-पौधे को काट सकते हैं? नहीं। यह इसलिए कि भगवान बुद्ध के समय में बहुत से लोग साधुओं का पेड़-पौधों को काटना बुरा समझते थे। शाक्य पुत्र श्रमणों की व्यर्थ में आलोचना होती थी। भगवान अकारण जनता का विरोध मोल लेने के पक्षपाती न थे। उन्होंने भिक्षुओं के लिए नियम बना दिया— वनस्पति नष्ट करने में प्रायश्चित करणीय है।

अहिंसा और जीव रक्षा

वनस्पति में जीव हो अथवा नहीं, किन्तु छोटे हों अथवा बड़े, प्राणियों में तो प्राण है ही। बुद्ध धर्म किसी छोटे से छोटे प्राणी की भी हत्या की आज्ञा नहीं देता। प्रश्न उठता है कि प्राणियों की जीवन रक्षा तो असम्भव

है। हम सांस लेते हैं तो भी प्राण-घात होता है, यह कहा जाता है। पानी पीते हैं तो उसमें भी कीटाणु माने ही जाते हैं और कृषि आदि कर्मों में सहस्रों जीवों की हत्या होती है तो क्या साँस लेना बन्द कर दें, पानी पीना छोड़ दें और क्या कोई खेती आदि का काम भी न करे? नहीं, बौद्ध-धर्म व्यक्ति को उसी हिंसा के लिए दोषी ठहराता है जो वह जान-बूझ कर करता है। व्यक्ति से जो हिंसा अनायास होती है, उसकी ज़िम्मेदारी व्यक्ति पर नहीं। व्यक्ति को हिंसा का अपराधी सिद्ध करने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि उसने द्वेष बुद्धि से जान-बूझकर हिंसा की है। धम्मपद की पहली ही गाथा पर जो चक्षुपाल स्थविर की कथा है, वह बड़ी ही शिक्षा-प्रद है। चक्षुपाल नामक स्थविर योगाभ्यास द्वारा जीवनमुक्त हो गये थे, किन्तु इस साधना में अपनी आँखें गँवा बैठे थे। जिस समय वह एक अन्धे का जीवन व्यतीत कर रहे थे, वर्षा ऋतु में उनके पाँव के नीचे आकर कुछ बीरबहूटियाँ (लाल-लाल छोटे कीड़े) मर गयीं। भगवान के पास शिकायत पहुँची। भगवान ने लोगों को फटकारा—"मूर्खो! एक तो चक्षुपाल स्थविर अन्धे हैं, उन्हें दिखायी नहीं देता। दूसरे अरहत हैं, जीवन-मुक्त हैं, उनके हृदय में द्वेष-भाव पैदा नहीं हो सकता। उनसे हिंसा कैसे हुई?"

अहिंसा सम्बन्धी जैन-मान्यताओं और बौद्ध-मान्यताओं में यह एक बड़ा अन्तर है। जैन मुनि सन्ध्या समय प्रदीप पर जल मरने वाले पतंगों की प्राण-रक्षा के लिए अँधेरे में बैठे रहना पसन्द करेंगे। बौद्ध श्रमण को इसकी तनिक चिन्ता नहीं होती। पतंगे मरते हैं तो अपने अपराध से मरते हैं। बौद्ध श्रमण उन्हें मारने के उद्देश्य से प्रदीप नहीं जलाता। वह प्रदीप जलाता है प्रकाश के लिए। और प्रकाश के लिए प्रदीप न जलाकर अँधेरे में बैठे रहना उसकी दृष्टि में व्यर्थ है, अनुचित है।

अहिंसा और विषैले जीव

सामान्य जीवों और विषैले जीवों में अन्तर करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। लोग कहते हैं कि विषैले खतरनाक जन्तुओं को तो मारना ही चाहिए। इस नियम में क्या उचित है और क्या अनुचित है, यह अधिकार-

पूर्वक न कह सकते हुए भी हम इतना कह सकते हैं कि जहाँ तक प्राणि-हिंसा की बात है, बौद्ध धर्म 'जीव' 'जीव' में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता। काफ़ी समय हुआ जब मैं लंका में था तो एक बार की घटना याद आती है। शाम को अपने मित्र श्री अनन्तराम भट्ट के साथ टहलने जा रहा था कि उधर से एक आदमी को एक चिमटे में कुछ लटकाये लिये जाते देखा। पूछा—"क्या है?"

उत्तर मिला—"साँप।"

"कहाँ छोड़ने जा हो रहे?"

"दूर कहीं।"

कोलम्बु के आस-पास घनी आबादी के प्रदेश के इस 'दूर कहीं' का मतलब होता है अपने घर से दूर। किसी दूसरे के घर के 'समीप'। श्री अनन्तराम भट्ट ने बताया कि इस प्रकार का सर्प यदि उनकी ओर कहीं मिल जाता है तो उसका मार डालना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता, उसे जला दिया जाता है। मैंने उस भाई से कहा—"साँप को मार क्यों नहीं डालते?"

उसका उत्तर था—"पाप लगेगा।"

मैंने कहा—"इस सर्प को मारने से जो पाप होगा, वह मैं अपने सिर लेता हूँ, तुम उसे मार डालो।"

आदमी ने मेरे आग्रह करने पर उस साँप को मार डाला। साँप क्या मरवा दिया, मैंने अपने सिर एक आफ़त मोल ले ली। सैर से लौट कर वापस विहार पहुँचने से पहले मेरी निन्दा समस्त विहार में फैल गयी—वह जो 'भारत' के भिक्षु हैं उन्होंने एक साँप मरवा दिया! लगभग एक सप्ताह शास्त्रार्थ चलता रहा। मैं साँप के भी मरवाने के औचित्य का पक्ष तो ग्रहण कर ही न सकता था। मेरा पक्ष था कि पूर्णरूप से निर्भय मनुष्य ही पूर्ण अहिंसक हो सकता है। वह मनुष्य साँप से डरता था। इसलिए साँप के प्रति अहिंसक होना उसका धर्म नहीं था। मैंने इसलिए उसे मार डालने की सलाह देकर साँप को मरवा दिया। सामान्य-रूप से विषैले समझे जाने वाले प्रत्येक जीव को मार ही डालना चाहिए, इस नियम के सम्बन्ध में मैं आज भी सन्दिग्ध

हूँ क्योंकि मेरी दृष्टि में मानव से बढ़कर विषैला जीव शायद विश्व में नहीं है। प्राणियों की जितनी जातियाँ हैं, वे प्रायः स्वयं अपनी जाति का भक्षण नहीं ही करतीं। मनुष्य तमाम प्राणि-जातियों की हत्या करता है और उनसे अवकाश पाते ही पापी मानव जाति के ही विनाश में संलग्न हो जाता है। और कौन दूसरा प्राणी मानव से बढ़कर विषैला है!

अहिंसा और अहिंसक-हिंसा

एक और तरह की भी हिंसा है, जिसे किसी दूसरे 'व्यक्त' शब्द के अभाव में हमने अहिंसक-हिंसा कहा है। डाक्टर की हिंसा, अहिंसक-हिंसा ही है, और ठीक है। मैत्रीपूर्ण चित्त से जो कुछ कहा या किया जाता है उसका बाह्यरूप यदि कष्टकर भी हो तो भी वह अहिंसा ही है। किन्तु इसी अहिंसक-हिंसा का एक दूसरा रूप भी है। किसी प्राणी को कोई आघात लग गया है। वह दुख-दर्द से बेचैन है। न आप ही उसे सहन कर सकते हैं और न स्वयं वह प्राणी। आप समझते हैं कि यह प्राणी कभी उस दर्द से मुक्त नहीं हो सकता। आप उसके दर्द के साथ उस प्राणी को भी शान्त कर देने के लिए उसे 'अफ़ीम की सुई' दिला देते हैं। प्राणी ठण्डा हो जाता है। यह है अहिंसक-हिंसा का दूसरा रूप। गान्धी जी ने अपने जीवनकाल में जो बछड़े की हत्या करवा दी थी, वह इसी प्रकार की अहिंसक-हिंसा थी। इस प्रकार की हिंसा में हम दो बातें मान लेते हैं। एक तो यह कि किसी को मरवा डालना उसे दुख से मुक्त करना होता है। क्या हम निजी अनुभव से कह सकते हैं कि मरण-वेदना और प्राणी की उस व्याधि जनित वेदना में कौन अधिक कष्टप्रद होती है? जिसे मरण-वेदना हुई वह कहने नहीं आया और जो कह रहा है उसे मरण-वेदना नहीं हुई। तब ऐसी मान्यता का क्या विश्वास? दूसरी बात यह मान ली जाती है कि यदि डाक्टर ने कहीं कह दिया कि अमुक प्राणी नहीं बचेगा तो उसका कथन ब्रह्मवाक्य हो गया। डाक्टरों के अनेको फ़तवे रोज़ मिथ्या होते देखे जाते हैं। अभी उस दिन हमारी समिति में ही काम करने वाले एक कर्मचारी के सम्बन्ध में नागपुर के सिविल-सर्जन ने राय दे दी थी कि उसका पैर कटवा डालना चाहिए। उसका पैर न कटवाकर एक सामान्य

मनुष्य से उसकी चिकित्सा करायी गयी। टाँग बिलकुल ठीक हो गयी। वह व्यक्ति इस समय भी हमारी समिति में काम कर रहा है और उसका काम ऐसा है कि उसे प्रायः चलते ही रहना पड़ता है। मेरी विनम्र सम्मति से जीवन-नाश की सीमा तक जाने वाली अहिंसक-हिंसा बहुत खतरनाक है। जो जीवन हम किसी को दे नहीं सकते, उससे लेने का हमें क्या अधिकार है?

अहिंसा और मांसाहार

आज समाज में जितनी प्राणी-हत्या होती है उसमें से एक बड़ी हद तक, प्राणी-हत्या होती है—भोजन के लिए। प्राणी-हत्या पाप ही है, चाहे भोजन के लिए हो, चाहे अन्य किसी भी प्रयोजन से। प्राणी-हत्या की प्रेरणा करना भी पाप है। विनय पिटक में पापी भिक्षु की कथा है, जिसने बछड़े की हत्या की प्रेरणा की थी। कथा इस प्रकार है—

'उस समय एक दुराचारी भिक्षु एक दुराचारी उपासक के घर आया-जाया करता था। तब वह दुराचारी भिक्षु पूर्वाह्न के समय (वस्त्र पहनकर) पात्र-चीवर ले, जहाँ उस दुराचारी उपासक का घर था, वहाँ गया। जाकर बिछे आसन पर बैठ गया। तब वह दुराचारी उपासक जहाँ वह दुराचारी भिक्षु बैठा था, वहाँ गया। जाकर उसे अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। उस समय उस दुराचारी उपासक के साथ एक तरुण सुन्दर दर्शनीय (चित्त को) प्रसन्न करने वाला, चीते के बच्चे की तरह का, चितकबरा बछड़ा था। वह पापी भिक्षु उस बछड़े को बड़े चाव से निहारता था। तब उस पापी उपासक ने उस पापी भिक्षु से यह कहा—

"भन्ते! आप क्यों मेरे बछड़े को इतने चाव से निहार रहे हैं?"

"आवुस! मुझे इस बछड़े के चमड़े का काम है।"

तब उस पापी उपासक ने उस बछड़े को मार कर चमड़े को चुन कर उस पापी भिक्षु को दिया। तब वह पापी भिक्षु उस चमड़े को लेकर संघारी से ढाँक कर चला गया। तब उस बछड़े पर स्नेह रखने वाली गाय ने उस पापी भिक्षु का पीछा किया। भिक्षुओं ने पूछा—

"आवुस ! क्यों यह गाय तेरा पीछा कर रही है ?"

"आवुसो ! मैं भी नहीं जानता कि क्यों यह गाय मेरा पीछा कर रही है ?"

उस समय उस पापी भिक्षु की संघारी .खून से सनी हुई थी। भिक्षुओं ने यह कहा—

"किन्तु आवुस, यह तेरी संघारी को क्या हुआ ?"

तब उस पापी भिक्षु ने भिक्षुओं से वह बात कह दी।

"क्या आवुस ! तूने प्राणि-हिंसा की प्रेरणा की ?"

"हाँ आवुसो।"

तब उन भिक्षुओं ने भगवान से यह बात कही।

बुद्ध भगवान ने फटकारा—"निकम्मे आदमी ! कैसे तूने प्राणि-हिंसा की प्रेरणा की...भिक्षुओ ! प्राणि-हिंसा की प्रेरणा नहीं करनी चाहिए, जो प्रेरणा करे उसे धर्मानुसार दण्ड देना चाहिए।"

इससे स्पष्ट है कि जो कोई भी हो (श्रमण हो अथवा उपासक) यदि वह प्राणि-हिंसा करता है तो भी दोषी है और यदि वह प्राणि-हिंसा की प्रेरणा ही करता है तो भी दोषी है।

प्रश्न है कि क्या मांसाहार करने वाला प्राणि-हिंसा का प्रेरक होता ही है ? होता भी है और नहीं भी। जब भी कभी कोई प्राणि-हिंसा करे अथवा प्राणि-हिंसा की प्रेरणा करे, वह दोषी है ही। किन्तु यदि किसी भिक्षु को बिना प्राणि-हिंसा किये अथवा उसकी प्रेरणा किये मांस खाने को मिल जाता है तो वह दोषी नहीं है। दोष हिंसा में है, मांस खाने में नहीं। भिक्षा-जीवी भिक्षुओं के लिए भगवान बुद्ध का क्या ही सुन्दर व्यावहारिक नियम है—

"भिक्षुओ ! मैं त्रिकोटि-परिशुद्ध, मत्स्य-मांस की अनुज्ञा देता हूँ।"

त्रिकोटि-परिशुद्ध का मतलब है—जिसे मैंने देखा न हो कि मेरे लिए मारा गया है, जिसके बारे में मैंने सुना न हो कि मेरे लिए मारा गया है, जिसके बारे में मेरे मन में सन्देह भी पैदा न हो कि मेरे लिए मारा गया है। ऐसा त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस ग्राह्य है। लोग पूछते हैं कि क्या ऐसा मछली-मांस होता है ? हाँ होता है, यदि नहीं होता तो वह अग्राह्य है। किन्तु ऐसा

मछली-मांस होता है। आकाश में दो पक्षी लड़ रहे हैं। एक ने दूसरे को मार कर गिरा दिया। किसी ने उस गिरे हुए पक्षी को उठा कर खा लिया। तो जिस व्यक्ति ने उस पक्षी को उठा कर खाया, उस पर उसे मारने का दोष कैसे लगाया जा सकता है?

सिंहल में रहते अक्सर देखा है कि किसी आचार्य के मुँह से मछली की प्रशंसा सुनकर गृहस्थ लोग मछली ले आये हैं। विवेकवान आचार्य को यदि यह याद आ गया है कि मछली उनकी प्रशंसा के परिणाम स्वरूप लायी गयी है तो फिर व्यक्तिगत रूप से उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया।

जिन लोगों की भावना मांसाहार के एकदम विपरीत है, उनके गले तो यह त्रिकोटि-परिशुद्ध वाली बात उतर नहीं सकती। दूसरे लोगों को भी इस में व्यक्तिगत नैतिकता की दृष्टि से ही कुछ सार दिखायी दे सकता है। सामूहिक नैतिकता की दृष्टि से तो यह 'त्रिकोटि-परिशुद्ध' अवश्य चिन्तनीय है।

अहिंसा-ग्राहियों तथा भिक्षान्नभोजियों के लिए आखिर दूसरा नियम भी क्या बन सकता था!

अहिंसा और मृत गो मांसाहार

आज मुर्दा गो का मांस खाना कुछ लोगों की दृष्टि में एक अत्यन्त घृणित कार्य है, किन्तु मैं उस युग की कल्पना करता हूँ जिस समय भारत में यज्ञों की धूम थी। गोवध होता था। गोमांस लोभी ब्राह्मण-पुरोहित गोवध करते और उसका मांस ग्रहण करते थे। उस समय अहिंसा प्रधान बौद्ध धर्म की प्रेरणा से समाज के एक हिस्से ने मांस के लिए गौओं को न मारने की शपथ ग्रहण की। उन्होंने स्वयं मरी हुई गौओं के मांस पर ही संतोष किया। जिस प्रकार गांधी जी ने जूते आदि बनवाने के लिए अहिंसक चमड़े को स्वीकार किया, उसी प्रकार मैं समझता हूँ कि उस समय कुछ लोगों ने अहिंसक मांस ग्रहण करना स्वीकार किया। अहिंसा तत्व की दृष्टि से उन लोगों की गिनती प्रगतिशील लोगों में ही की जानी चाहिए। आज अछूत कहलाने वाली जितनी जातियाँ मुर्दा-मांस ग्रहण करती हैं, वे समाज

के उसी हिस्से की परम्परा में से हैं, जिसने किसी समय अहिंसक-मांस मात्र ग्रहण करने को ही अपना धर्म स्वीकार किया था।

हमारे ब्राह्मण पूर्वज यज्ञ करते थे और उसमें बध हुए पशुओं का मांस ग्रहण करते थे, इसमें किसी तरह के विवाद की गुंजायश नहीं है। यज्ञ का अर्थ ही था—मिलजुल कर किया जाने वाला कार्य। ब्राह्मण-ग्रन्थों को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि आप किसी कसाई-ख़ाने में ही बैठे हैं। यज्ञ में, पशु की हत्या हो चुकने के बाद, उसके बाद बँटवारे के बारे में 'अत्रेय' ब्राह्मण कहता है—

'अब बलि के पशु के भिन्न-भिन्न अंगों के (पुरोहितों में) बाँटे जाने का प्रश्न उपस्थित होता है। हम इसका वर्णन करेंगे। जबड़े की दोनों हड्डियाँ और जिह्वा प्रस्तोता को दी जानी चाहिए, बाज़ की शक्ल में छाती उदगाता को, गला और तालु प्रतिहर्ता को, कमर के हिस्से का दाहिनी ओर का हिस्सा होतृ को, बायाँ ब्राह्मण को, दायीं जाँघ मैत्रावरुण को, बाईं ब्राह्मणच्छसी को, कंधे के साथ की दायीं ओर अध्वर्य को, बायीं मंत्रोच्चारण में साथ देने वालों (उपगाताओं) को, बायाँ कन्धा प्रतिस्थाता को, दायें बाजू का निचला हिस्सा नेष्टा (नेष्ट्र) को, बायें बाजू का निचला हिस्सा पोता (पोतृ) को, दाहिनी जाँघ का ऊपर का हिस्सा अच्छावाक को, बायीं जाँघ का ऊपर का हिस्सा अग्निधर को, दायें बाजू का ऊपर का हिस्सा आत्रेय को, बायें बाजू का ऊपर का हिस्सा सदस्य को, पीछे की हड्डी और अण्डकोष (यज्ञ कराने वाले) गृहस्थ को, दायाँ पाँव भोज देने वाले गृहपति को, बायाँ पाँव भोज देने वाले गृहपति की भार्या को, ऊपर का होंठ गृहपति और उसकी भार्या के समानाधिकार में है, जिसका बँटवारा गृहपति करेगा। पशु की पूँछ वे मायाओं को देते हैं किन्तु वह उन्हें किसी ब्राह्मण को ही देनी चाहिए, गर्दन पर मणिक और तीन कीकस ग्रावस्तुत को, तीनों कीकस और पीठ के मांसल हिस्से का अर्धांश (वैकर्त) उनमेता को, गर्दन पर के मांसल हिस्से (क्लोम) का आधा हिस्सा बध करने वाले को। यदि बध करने वाला स्वयं ब्राह्मण न हो तो किसी ब्राह्मण को दे दें। सिर सब्रह्मण्य को देना चाहिए जो कल

सोम यज्ञ के समय बोला, सोम-यज्ञ में यज्ञ की बलि बने पशु का वह हिस्सा जो यज्ञ-भोज का है वह सब पुरोहितों का है। केवल होतृ के लिए ऐच्छिक है। समय का विपर्यास है कि जो ब्राह्मण किसी समय कसाइयों की तरह पशु की हत्या स्वयं अपने हाथों से करते थे, उनमें से एक बड़ी संख्या शाकाहारी बन गयी और गो-मांसाहारी तो एक प्रकार से कोई भी नहीं रहा।

अहिंसा और दण्ड विधान

अहिंसा का तात्विक दर्शन ठीक है, किन्तु समाज में जहाँ दुष्ट हैं, दुराचारी हैं, क्या उनके प्रति भी दण्ड रहित रहना ही कर्तव्य है। यदि हाँ तो ऐसी अहिंसा किस काम की, जिसमें दुष्ट और दुराचारी निर्बाध घूम सकें और यदि नहीं तो फिर अहिंसा और दण्ड विधान की संगति कैसे बैठता है? प्रश्न पुराना है। मिलिन्द नरेश ने भी आज से बाइस सौ वर्ष पहले स्थविर नागसेन से यही प्रश्न पूछा था। हम मिलिन्द-प्रश्न से ही उस प्रश्न और उसके उत्तर को यहाँ उद्धृत करते हैं—

"भन्ते नागसेन! भगवान ने यह कहा है—किसी की हिंसा न करते हुए प्यार से आपस में मिलकर रहो।"

"साथ ही साथ यह भी कहा है—जो दण्ड दिये जाने के योग्य हैं उन्हें दण्ड दो, जो साथ दिये जाने के योग्य हैं उनका साथ दो।"

"भन्ते! दण्ड देने का अर्थ है, हाथ काट देना, पैर काट देना, मार डालना, जेल में डाल देना, मारना-पीटना या देश निकाला देना। भगवान ने ये दोनों बातें कैसे कहीं?"

स्थविर नागसेन का उत्तर था—"महाराज! भगवान ने दोनों बातें ठीक ही कहीं हैं। महाराज! सभी बुद्धों का यह उपदेश है, यह धर्म-देशना है। अहिंसा धर्म का प्रधान लक्षण है। बुद्ध के ये स्वाभाविक वचन हैं। महाराज और जो उन्होंने यह कहा है कि जो दण्ड देने योग्य है, उसे दण्ड देना चाहिए, उसका मतलब है—"बुरों को दबाना चाहिए भलों को बनाये रखना चाहिए, चोर को दबाना चाहिए, साधु को बनाये रखना चाहिए।"

"भन्ते! यह ठीक है कि चोर को दबाना चाहिए किन्तु कैसे?"

"महाराज ! चोर को इस तरह दबाना चाहिए—यदि उसे डाँट-डपट करना उचित हो तो डाँट-डपट करना चाहिए, दण्ड देना उचित हो तो दण्ड देना चाहिए, देश से निकाल देना उचित हो तो देश से निकाल देना चाहिए, और यदि फाँसी दे देना उचित हो तो फाँसी दे देनी चाहिए।"

"भन्ते ! जो चोरों को फाँसी देने की बात है, वह क्या बुद्ध धर्म के अनुकूल है ?"

"नहीं महाराज !"

"तो बुद्ध धर्म के अनुकूल चोरों को कैसे दबाना चाहिए ?"

"महाराज ! जो चोरों को फाँसी दी जाती है वह बुद्ध धर्म के आदेश करने से नहीं, बल्कि उनकी अपनी करनी से। महाराज ! क्या धर्म ऐसा आदेश करता है कि कोई बुद्धिमान किसी बेक़सूर आदमी को बेवजह सड़क पर जाते हुए पकड़ कर जान से मार दे ?"

"नहीं भन्ते।"

"क्यों नहीं ?"

"भन्ते ! क्योंकि उसने कोई क़सूर ही नहीं किया है।"

"महाराज ! इसी तरह बुद्ध धर्म के आदेश करने से चोरों को फाँसी नहीं दी जाती, किन्तु उनकी अपनी करनी से। क्या बुद्ध को इससे कोई दोष लग सकता है ?"

"नहीं भन्ते ! देखते हैं, बुद्धों के उपदेश सदा उपयुक्त ही होते हैं।"

इसका सार इतना ही है कि समाज में कुछ बातें मान लेने वाले व्यक्ति हैं उन्हें लात की आवश्यकता नहीं और कुछ ऐसे हैं कि जो लात के भूत हैं, वे बात नहीं ही मानेंगे। उनके लिए लात की भी व्यवस्था रखनी ही पड़ती है, रखनी उचित भी है। किन्तु देखने में आता रहा है कि बात (उपदेश) और लात (दण्ड) दोनों की भरपूर व्यवस्था रहने पर भी समाज में अपराधों की कमी नहीं। तब इसका क्या कारण है ? समाज के विकास के इतिहास का नयी दृष्टि से अध्ययन ही इस विषय में कुछ मार्ग-दर्शन कर सकता है।

अहिंसा और मैत्री

अहिंसा को यदि हम संकुचित अर्थ में ग्रहण करते हों तो मैत्री शब्द के प्रयोग से मैं समझता हूँ कि उसका मार्जन हो सकता है। बुद्ध धर्म का मूल-मंत्र प्राणघात से विरति नहीं है, किन्तु मन की मैत्री है। कायिक तथा वाचिक कर्म का बाह्य रूप कठोर ही नहीं, रौद्र तक हो सकता है। किन्तु वास्तविक प्रश्न है कि उसके पीछे जो भाव है, वह दोषपूर्ण है अथवा मैत्रीपूर्ण!

अभय राजकुमार एक बार भगवान बुद्ध के पास एक उभय-कोटी प्रश्न लेकर गया था। अर्थात् ऐसा प्रश्न जिसका किसी भी ओर उत्तर देने से उत्तर देने वाला पराजित हो जाय। उसका प्रश्न था—क्या तथागत कभी अप्रिय वचन बोलते हैं? यदि कहें कि नहीं तो उसके पास तथागत के कुछ ऐसे वचन थे जब उन्होंने किसी को निकम्मा आदमी अथवा नरक में जाने वाला कहा था। ये शब्द किसी को प्रिय नहीं हो सकते। यदि तथागत कहें कि हाँ, अप्रिय वचन बोलता हूँ तो वह पूछना चाहता था—तो दूसरों को प्रिय भाषी बनने को क्यों कहते हैं?

जिस समय अभय राजकुमार ने तथागत के पास पहुँच कर यह प्रश्न पूछा, उस समय उसकी गोद में एक बहुत ही छोटा बच्चा था। भगवान ने अभय राजकुमार से कहा—

"तुम क्या मानते हो, राजकुमार! तेरे या दाई के प्रमाद से यदि यह कुमार मुख में काठ या डेला डाल ले, तो तू इसको क्या करेगा?"

"निकाल लूँगा, भन्ते! यदि भन्ते मैं पहले ही न निकाल सका, तो बायें हाथ से सीस पकड़कर दाहिने हाथ से अँगुली हेठी कर खून सहित भी निकाल लूँगा।"

"सो किस लिए?"

"भन्ते! मुझे कुमार पर दया है।"

"ऐसे ही राजकुमार। तथागत जिस वचन को असत्य और अनर्थकर जानते हैं, और वह दूसरों को अप्रिय है, उस वचन को तथागत नहीं बोलते। तथागत जिस वचन को सत्य किन्तु अनर्थकर जानते हैं और वह दूसरों को

अप्रिय है उस वचन को तथागत नहीं बोलते। तथागत जिस वचन को सत्य तथा अर्थकारी जानते हैं, उसे तथागत काल देखकर कभी बोलते भी हैं और कभी नहीं बोलते। तथागत जिस वचन को असत्य तथा अनर्थकर जानते हैं वह दूसरों को प्रिय होने पर भी नहीं बोलते। तथागत जिस वचन को सत्य और अर्थकारी जानते हैं और दूसरों को प्रिय भी हैं, कालज्ञ तथागत उस वचन को बोलते हैं। सो किस लिए ? राजकुमार, तथागत को प्राणियों पर दया है।"

इस युग में हिंसा का अर्थ हो गया है रक्त-दर्शन और अहिंसा का अर्थ रह गया है रक्त-दर्शन से विरति। हिंसा कायिक कर्म ही नहीं है, उससे कहीं बढ़कर वाचिक तथा मानसिक है। यदि मन में मैत्री है तो वाणी तथा कर्म स्वयं अपनी सुध आप ले लेते हैं। हमें उनकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

अन्यथा 'जीव-रक्षा' को ही अहिंसा मानने वालों को किसी राजस्थानी की जली-कटी नहीं ही भूलनी चाहिए—

जानण हारया जाणिया वाणया तेरी बाण
अण छाना लोहू पिवे पाणी पीवे छान।

पंजाब का जातीय महाकाव्य—हीर-राँझा

जिन महान ग्रन्थों को अपने प्रचार के लिए न किसी समालोचना की आवश्यकता है और न किसी विज्ञापन की, उन तुलसीकृत रामायण सदृश ग्रन्थों में मैं वारिसशाह के 'हीर-राँझे' की गिनती करता हूँ।

हम सामान्यतया किसी ऐसे काव्य को ही जातीय अथवा राष्ट्रीय विशेषण से विभूषित करने के अभ्यस्त हैं जिनमें हथकड़ियाँ हों, बेड़ियाँ हों, जेलखाना हो, फाँसी हो, शहादत हो और इन्कलाब ज़िन्दाबाद हो। 'हीर-राँझा' इस संकुचित अर्थ में जातीय महाकाव्य नहीं है। उसमें पंजाब का यथार्थ चित्रण है। पंजाबी भावनाओं का अभूतपूर्व व्यक्तीकरण है। प्रत्येक पंजाबी काव्य-प्रेमी के ही नहीं, प्रत्येक पंजाबी समझने वाले के अन्तस्तल को भी छूने की अद्भुत सामर्थ्य है। मैंने 'हीर-राँझे' को पढ़ते समय हिन्दू-मुसलमानों की आँखों को समान रूप से सजल होते देखा है। इसी से 'हीर-राँझा' पंजाब का जातीय महाकाव्य है।

साहित्यिक समालोचना के माप-दण्ड के हिसाब से 'महाकाव्य' की एक विशेष परिभाषा स्वीकृत है। उस में इतने सर्ग हों, इतने परिच्छेद हों, आदि। काव्य वह भूमि नहीं है जिसे फुटों और गज़ों से नापा जा सके। काव्य की

जान उसका रस है, उसकी उठान है, उसकी उड़ान है। 'हीर-राँझा' असाधारण तौर पर इन्हीं अलंकारों से अलंकृत होने के कारण महाकाव्य है। इसकी रचना अब से लगभग १६० बरस पूर्व—१८२० विक्रमी संवत की है।

हीर-राँझा का मंगलाचरण, काव्यारम्भ आदि काव्य-परम्परा के अनुसार है। वारिसशाह को अपनी प्रतिभा पर विश्वास है, तभी तो वह आरम्भ में ही कहता है—

"बाग़ में बुलबुल बनकर चहकना चाहिए। रहस्यपूर्ण बात बोलनी चाहिए। मुँडेर पर बैठकर काँव-काँव करने वाले कौओं की तरह व्यर्थ मग़ज़ नहीं खाना चाहिए। सफ़ेद काग़ज़ों को काला करके काव्य को यूँ ही बदनाम नहीं करना चाहिए।"[1]

किस्सा अथवा कथानक तख़्त हज़ारे का है। चनाब के अन्दर किसी नगर का। उस नगर के संबन्ध में कवि का कथन है—

"हज़ारे की क्या प्रशंसा करूँ। स्वर्ग ही ज़मीन पर उतर आया है।"[2]

उसी नगर में मौजू चौधरी का परिवार रहता है। आठ बेटे हैं, दो बेटियाँ। आठों में एक राँझा है—पिता का बहुत ही प्यारा पुत्र।

आठों भाइयों में परस्पर प्रेम नहीं। बहुत खींचातानी है। उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"वे माथे पर त्योरियाँ डालकर बात करते थे और जो भी बात करते

---

१. बुलबुल होके चहकिए बाग अन्दर
सुखन रम्ज़ा दे नाल अलाइये जी
कावाँ वाँग अडार बनेरियां दी
ऐवें कूड़ न मग्ज़ खपाइये जी
करके कालयां बग्गयां कागज़ाँनू
ऐवें शेर नूँ लीक न लाइये जी।

२. वारिस की हज़ारे दी सिफ़्त आखाँ
गोया बहिशत ज़मीन ते आई।

वह सीधी बात न होकर लड़ाई-झगड़े की ही बात होती। सगे-सम्बन्धी सभी की अपेक्षा आदमी को अपना स्वार्थ बड़ा ही प्यारा है।"[१]

बाप का देहान्त हो जाता है। भाई और भी "परमस्वतन्त्र" हो जाते हैं। वे ज़मीन का बँटवारा करते समय क़ाज़ी को रिश्वत देकर अच्छी-अच्छी ज़मीन ख़ुद ले लेते हैं और राँझे को मिलती है बंजर ज़मीन।

भाई और भाभियाँ दोनों मिलकर राँझे को तरह-तरह के ताने मारते हैं। किन्तु राँझे को विशेष शिकायत अपनी भाभियों से ही है। राँझा कहता है—

"मुझे तुमने सगे भाइयों से पृथक् कर दिया। मेरे कलेजे में काँटा चुभो दिया। हम जिगर और जान की तरह इकट्ठे थे। तुमने हमें पृथक-पृथक कर दिया।" [२]

भाभियों को राँझे से और भी अधिक शिकायत है। वे कहती हैं—

"एक हमीं हैं जिन्हें तू कलंक लगा रहा है और हमारी सभी सहेलियाँ सुख से दिन गुज़ार रही हैं। यदि तू घर से निकले तो भूखा मर जाय और तेरी सारी खर-मस्तियाँ भूल जायँ।" [३]

---

१. पा त्योरियाँ मत्थे ते गल्ल करदे,
    बोलन बोल अवलदे जंग देनी
  वारिसशाह ए गरज़ है बहोत प्यारी
    हीर साक न सैन न अंग देनी।

२. सक्याँ भाइयाँ नालों विछोड़ मैं नूँ
    कण्डा विचँ कलेजे दे पोडया जे
  भाई जिगर ते जानसाँ असीं कट्ठे
    वक्खो वक्ख ही चा विछोड़या जे

३. इकतूँ कलंक है असाँ लग्गा।
    होर सभ्य सुखालियाँ वसदियाँनी
  घरों निकलें ते पेया मरें भुखा
    सभे भुल जाणा खर मस्तियाँनीं

राँझा और भाभियों की बातचीत ने कई पृष्ठ ले लिये हैं। सारी बात-चीत की चाशनी ऐसी रंगीन है कि कुछ न पूछो।

अन्त में भाभियों से तंग आकर राँझा तख़्त-हज़ारे से चल देता है। उसके प्रस्थान की चर्चा करता हुआ कवि कहता है—

"जिस प्रकार आत्मा शरीर को छोड़कर चल देता है, उसी प्रकार यह दरवेश चल दिया। उसने हज़ारे का अन्न-पानी ग्रहण न करने की क़सम खायी और झंग-स्याल जाने का निश्चय किया। राँझा को रिज़्क़ ने उदास कर दिया। उसका जीव चलो-चलो ही पुकारने लगा। राँझा बग़ल में बाँसुरी लेकर देश तथा वतन को भूलकर चल दिया।"[३]

राँझे के भाइयों को ख़बर लगी कि वह वतन छोड़ चला जा रहा है। भाइयों ने ही नहीं, भाभियों ने भी राँझे को रोक रखने का बहुत आग्रह किया। उसने एक न मानी। हज़ारे से निकल ही पड़ा। रात को एक मसजिद में विश्राम किया, तो सभी तरह के लोग इकट्ठे हो गये। कवि उनके बारे में कहता है—

"गाँव में कोई भी स्त्री-मर्द नहीं रहा, सभी मसजिद के गिर्द आ इकट्ठे हुए। सबसे आख़िर में झगड़ों की गठरी अर्थात् मसजिद का मुल्ला

---

३. रूह छड कलबूत जूँ विदा हुँदा
तिवें ऐह दरवेश सिधारयाई
अन्न-पानी हज़ारे दा कस्म करके
कसद झंग स्यालाँ दा धारयाई
कीता रिजक ने आन उदास राँझा
चलो चल एह जीव पुकारदाई
कच्छे वन्झली मारके रवाँ होया
वारिस देस ते वतन विसारदाई

था, वह भी वहाँ आ पहुँचा।"[४]

इसके आगे मसजिद का वर्णन है। अरबी-फ़ारसी की पुस्तकों की नामावली है। पढ़ाई के सामान का वर्णन है।

यहाँ मुल्ला और राँझे की बातचीत बड़ी ही शानदार है। एक किताब के दीन का पक्षपाती है और दूसरा इश्क़ के मज़हब का। मुल्लाओं की चर्चा करते हुए कवि कह ही तो देता है—

"ये मुल्ला नहीं हैं, यह तो .खुदा के खानों को लगी हुई बलायें हैं।"[५]

राँझा मसजिद छोड़ देता है। प्रातःकाल का समय है। वर्णन पढ़ते समय ऐसा लगता है कि घड़ी में सुबह के चार पाँच बज रहे होंगे।

राँझा चल कर नदी के तट पर पहुँचता है—चनाब नदी के। वह चाहता है कि मल्लाह उसे नदी के पार उतार दें। मल्लाह इनकार करते हैं। राँझा बैठ कर बाँसुरी बजाने लगता है। गाँव भर के लोग इकट्ठे हो जाते हैं। राँझा को देख और उसकी बाँसुरी को सुनकर मन में खटका होता है कि कहीं राँझा उनकी औरतों को ही न भगा ले जाय।

राँझा तैर कर नदी पार करना चाहता है। लोग उसे ज़बरदस्ती नौका पर चढ़ा देते हैं। वहाँ 'हीर' का पलंग बिछा है। राँझा उस पर जा बैठता है और पलंग के बारे में प्रश्न करता है। लोग कहते हैं—यह हुस्न की देवी का पलंग है।

लोग राँझा से घर छोड़ आने का कारण पूछ कर जान लेते हैं।

---

४. सन्त मर्द न पिण्ड विच रेहा कोई,
सब गिर्द मसीत दे आया ई।
वारिसशाह मियाँ पिंड झगड़्याँ दीं,
पिच्छो मुल्लाँ मसीतदा आया ई।

५. वारिसशाह खुदा दे खानायाँ नू,
ऐह मुल्लाँ न चिम्मड़े हैन बलाये।

हीर का आगमन होता है। कवि ने हीर के सौन्दर्य वर्णन में क़लम तोड़ दी है। हीर आते ही मल्लाहों से पूछती है कि हमारे पलंग को किसने ख़राब किया। मल्लाह कहते हैं कि यह हमारा मेहमान नहीं है और तू भी हुस्न का इतना गुमान न कर। राँझा मुँह से कपड़ा उतारता है। हीर देखते ही उसपर क़ुर्बान हो जाती है। कहती है—

"अच्छा हुआ कि मेरा हाथ तुझ पर नहीं उठ गया, क्योंकि मेरे पलंग पर आकर तेरा सोना मेरी शान के ख़िलाफ़ नहीं हुआ। जब चार आँखों की घमासान लड़ाई हुई, तो फिर वारिसशाह कहता है कि दम मारने को भी जगह नहीं मिली।"[1]

हीर तथा राँझा का क़ौल-क़रार। हीर राँझे को अपने पिता के पास ले जाती है और राँझे का परिचय देती है। हीर के कहने से पिता राँझे को भैंसों की देख-भाल करने के लिए नौकर रख लेता है। अपनी माँ से हीर कहती है—"मैंने मधुर-वाणी से राँझे को फँसा लिया और हमें अपने डंगर चराने के लिए एक योग्य चरवाहा मिल गया है।"[2]

राँझा डंगर चराने जाता है। रास्ते में उसकी पाँच पीरों से मुलाक़ात होती है। राँझा उनसे एक ही वरदान माँगता है—उसे हीर मिल जाय। पाँच-पीर राँझे से 'तथास्तु' कहते हैं।

राँझा हीर के डंगर चराने जाता है। कवि का हीर के डंगरों का वर्णन

---

1. भला होया तैनू न मार बैठी,
   कोई नहीं सी गैल बेशान होई।
   वारिसशाह न थाँ दम मारने दी,
   चार चश्म दी जदों घमसान होई।

2. अल्ला सच्च ते नबी बरहक़ मियाँ
   मैं तो आपना देयाँ इक़रार तैनूँ।
   तेरी बन्दी है जिच्चर है जान मेरी,
   खड़ी बेच लै हट बाजार मैंनूँ।

काव्य की वर्णनात्मक शैली का एक श्रेष्ठ नमूना है।

हीर चरागाह में ही राँझे के पास जाती है। वहाँ बातचीत में राँझा कह उठता है कि "स्त्री जैसा कोई मक्कार नहीं।" हीर उत्तर देती है—"जितने वली ग़ौस हुए हैं, वे सब स्त्रियों से ही पैदा हुए हैं। इसलिए स्त्रियों की निन्दा न कर।" दोनों के क़ौल-क़रार होते हैं। हीर अपना प्रेम निवेदन करती है—

"मैं अल्लाह और नबी को गवाह बनाकर तुझे अपना वचन देती हूँ कि जब तक मेरी जान में जान है तब तक यदि तू चाहे तो मुझे बाज़ार में खड़ी करके बेच ले सकता है।"

भाइयों को राँझा के झँग-स्याल में होने की खबर मिलती है। वे हीर के पिता को राँझा को लौटा देने के लिए लिखते हैं। चोचक उत्तर देता है—

"भाई अपनी भाभियों के पास जन्म-जन्मांतर तक जाय। हमने उसे रोक कर नहीं रखा। हमारे साथ वह प्रसन्नतापूर्वक रहता है। हम उसे एक घड़ी के लिए भी पृथक नहीं करते। हमने हज़ारे के बाग़ में से एक गुलाब का फूल तोड़ा है।"[1]

भाभियों ने हीर को भी ख़त लिखा। हीर ने राँझे से चर्चा की। राँझे का इनकार, इनकार ही था। हीर और राँझे की भाभियों का पत्रोतर गृहस्थ-जीवन-की अनुपम तस्वीर है।

हीर राँझे के प्रेम में गहरी उतरती चली जाती है। दोनों का प्रेम

---

1. जाय भाई भाबिया पास जम-जम,
किसे हरकाया ते नहीं होइयाई।
साडे नाल रहे दिन रात हस्सदा,
इक घडी न असीं विछोड़याई।
वारिसशाह हज़ारे दे बाग विच्चों,
असाँ फुल्ल गुलाबदा तोड़याई।

सार्वजनिक चर्चा का विषय बनने लगता है। माँ हीर को समझाती है।

हीर का लँगड़ा चाचा फ़क़ीर का भेस बना राँझे से उस चूरी (घी, शक्कर और रोटी का मलीदा) में से जो हीर उसे ले जाकर खिलाती थी, कुछ माँग लाता है। यह 'चूरी' दोनों के प्रेम का सर्टिफ़िकट थी।

हीर अपनी सखियों की सहायता से अपने लँगड़े चाचा को बुरी तरह पीटती है। कैदो आकर चोचक से शिकायत करता है। चोचक विश्वास नहीं करता। अपने विश्वास को व्यक्त करता हुआ कवि अनायास अपने युग के मिथ्या-विश्वासों को कह जाता है। कवि का कथन है—

"भंगी का लड़का कभी सैयद नहीं हो सकता, बकरियों के बेटे कभी घोड़े नहीं बनते। जाटों, मोचियों और तेलियों के लड़के कभी फ़क़ीर नहीं बनते।"[२]

कैदो हीर के पिता को विश्वास न करते देख, हीर की माँ से शिकायत करता है। माँ हीर को झिड़कती है और हीर के पिता से शिकायत करती है। राँझा चोचक का घर छोड़ कर चल देता है। चलते समय कहता है कि "खत्री का खाता खत्री के घर रहा और हिसाब-किताब यूँ ही पहाड़ हो गया। तुम्हारी लड़की तुम्हारे घर रही और यूँ ही बात बढ़ गयी।"[३] पंजाब में लेन-देन का कारोबार करनेवाले खत्रियों पर क्या तीखा व्यंग्य है!

राँझा बारह बरस तक हीर की भैंसें चराता रहा और उसके चल देने

---

२. नहीं चूहड़े दा पुत्तर होवे सैयद,
घोड़े होण नहीं पुत्त बेलयाँ दे।
वारिसशाह फ़क़ीर न होण हरगिज़,
पुत्र जट्टाँ ते मोचियाँ तेलियाँ दे।

३. बही खत्री दी रही खत्री ते,
लेखा गया है हो पहाड़ मियाँ।
तेरी धी रही तेरे घर बैठी,
झगड़ा मुफ़्त दा ले आई झाड़ मियाँ।

पर भैंसों ने खाना-पीना छोड़ दिया। लोगों में भी चर्चा थी कि बिना कुछ लिये-दिये बारह वर्ष तक मुफ़्त में काम लिया।

हीर के पिता ने हीर की माँ से कहा—"किसी-न-किसी तरह राँझे को फिर फँसा लिया जाय। संसार का काम ऐसे ही चलता है। हम भी कोई मकरफ़रेब बना लें। राँझा हमारी लड़की का कुछ बिगाड़ता तो है ही नहीं। हम उससे सब सेवा-टहल करवा लें।"[४]

हीर की माँ राँझे को समझाती है कि "चोचक के साथ जो बात-चीत हो गयी, उसका वह मन में ख़याल न करे। माँ-बाप तथा पुत्रों में कभी कहीं लड़ाई होती है? तुम कमाने वाले और हम खाने वाले।"[५]

'तुम कमाने वाले और हम खाने वाले' शब्दों के पंजाबी रूप में क्या ग़जब की मिठास है!

राँझे ने 'मिलकी' का कहना मान घर में रहना स्वीकार किया।

उसी अवसर पर राँझे ने पाँचों पीरों का ध्यान किया, जिन्होंने राँझे को इश्क में साबित-क़दम रहने के लिए कहा।

इश्क का और अक़्ल का, गोपियों के प्रेम का और ऊधो के उपदेश का सदा से बैर चला आया है।

हीर-राँझे के उपाख्यान में भी क़ाज़ी बार-बार शरीयत की दुहाई देता हुआ वहाँ उपस्थित होता है। क़ाज़ी जी की नसीहत के जवाब में हीर को

---

४. ऐस जग मक्कार दा कँम एहो,
कोई मकर-फ़रेब बना लइये।
साडी धी दा कुझ न लाह लैंदा,
सब टहल-टकोर करा लइये॥

५. मिलकी आखदी लइयोंजे नाल चोचक,
कोई सुखन न जीभ ते लावनाईं।
केहा माप्यां पुत्रां लड़न हुँदा,
तसाँ खटनाँ ते असाँ खावनाईं॥

कहना पड़ता है—

"आम्र-रस का दाग़ नहीं जाता, उसी प्रकार इश्क़ का दाग़ भी नहीं जाता।"[1]

हीर-राँझे के स्नेह-सूत्रों के मज़बूत बनते जाने से माता-पिता की चिन्ता बढ़ती जाती है। पिता तो अफ़सोस के मारे सोचने लगता है कि पैदा होते ही हीर को विष क्यों न दे दिया?

क़ाज़ी शमशुद्दीन जब हीर को बार-बार नसीहत करने से बाज़ नहीं आता, तो हीर साफ़-साफ़ कहती है—

"यदि दुनिया की ख़ुशी चाहते हो तो राँझे से हीर की शादी कर दो। हमने इश्क़ के मुआमले उठा लिये हैं। परमात्मा चाहेगा तो हम अन्त तक इन्हें निभायेंगे। बातें करनी तो बहुत आसान हैं, लेकिन इश्क़ के रास्ते पर चलना बहुत कठिन है। वारिसशाह प्रार्थना करता है कि परमात्मा आदमी को उसी प्रकार का ज़ौक़ तथा शौक़ दे जैसा हीर का राँझे के प्रति।"[2]

वारिसशाह की यह विशेषता है कि वह प्रायः हर सुख़न के अन्त में अपनी बात अपने ढंग पर कह देता है।

जब हीर के भाई, माता-पिता और क़ाज़ी—सभी हीर को धमकियाँ

---

१. दाग़ अँब दे रसे दा लहे नहीं,
दाग़ इश्क़दा भी नहीं जाह मियाँ

२. जेकर ख़ुशी जहान दी चाँहदे हो,
देहो राँझे नूँ हीर ब्याह मियाँ
असाँ इश्क़ दे मुआमले चुक्क लये,
रब्ब चाहे ते तोड़ निभा मियाँ
गल्लां करनियां बहुत सुखालियां नी,
औखा इश्क दे चलना राह मियाँ
वारिसशाह रब्ब ज़ौक़ ते शौक़ देवे,
जेही 'हीर' नूँ चाकदी चाह मियाँ।

देने लगे, तो हीर ने राँझे के पास सन्देश भेजा कि वह उसके कष्टों को दूर करने के लिए कोई दुआ करे। राँझे ने पाँचों पीरों को याद किया।

वारिसशाह ने पाँचों पीरों के दरबार में राँझे के गान का जो विस्तृत वर्णन किया है, वैसा कोई ऊँचे दर्जे का संगीत-शास्त्रज्ञ ही कर सकता है।

पाँचों पीरों ने राँझे पर .खुश होकर दुआ दी कि हीर उसी की होकर रहेगी।

राँझे ने मिठ्ठी नाइन से इश्क के प्रकारों और उनमें कौन सा श्रेष्ठ है, प्रश्न किया। जब मिठ्ठी नाइन के विस्तृत विवरण से उसे उसकी योग्यता के सम्बन्ध में पूरा विश्वास हो गया तो उसने हीर को सलाह दी कि वह मिठ्ठी नाइन को अपनी दूती बना ले। हीर ने मिठ्ठी नाइन को पाँच मोहरें दीं और कहा—

"लड़कियों के सामने किसी भी तरह इस भेद को प्रकट न होने देना। उसे अपने जीभ में ही छिपाकर रखना। वारिसशाह का कहना है कि अपना ही गुड़ खाओ, तो भी उसे दुनिया से छिपाकर ही खाना चाहिए।"

और 'माया के प्रभाव' के बारे में कवि का कहना है—

"मिठ्ठी ने जब माया देखी तो उसे संकोच हुआ, किन्तु उसे बहुत .खुशी भी हुई। माया बुरों की बुराई को छिपा लेती है, और माया सभी जगह लाज ढक लेती है।"

अब हीर और राँझा नाइयों के घर .खूब मिलने-जुलने लगे। चनाब नदी पर पहुँच यथा अवसर एक साथ तैरने भी लग गये।

हीर का लंगड़ा चाचा हीर के पीछे पड़ा था। उसने शिकायत की। हीर की सखियों को जब कैदो की अनेक करतूतों का पता लगा तो उन्होंने कैदो को पीटने की सलाह की। जनाब 'कैदो' बुरी तरह पिटे। जब कैदो ने चोचक से शिकायत की, तो हीर के बाप ने उल्टे उसे ही धमकाया और कहा कि व्यर्थ झगड़े लगाता फिरता है।

कैदो पीछे पड़ा ही रहा। उसने पंचों से शिकायत की। पंचों ने हीर की सहेलियों से पूछ-ताछ की। सभी ने कैदो को ही बुरी तरह दोषी ठहराया।

कैदो पंचों के सामने रोता-गाता रहा। अन्त में पंचों ने कैदो को यह कहकर तसल्ली दी कि जिस ओर से तेरी झोपड़ी को इन्होंने जला दिया है, उसे हम फिर बनवा देंगे। तुझे पोस्त तथा अफ़ीम भी मँगवा देंगे और भी जो कुछ इन्होंने तेरा नुक़सान किया होगा पूरा करवा देंगे।"[1]

कैदो ने पंचों को आश्वासन दिया कि एक-न-एक दिन वह उन्हें सब कुछ आँख से दिखा देगा। एक दिन उसका मौक़ा लग ही गया। हीर तथा राँझा दोनों चनाव के तट पर साथ लेटे थे, कैदो ने जाकर हीर के पिता को सूचना दे दी। चोचक ने देखा तो हीर को जान से मार डालने की धमकी दी। हीर ने क्षमा-प्रार्थना करते हुए पिता से निवेदन किया—

"चुप करें, कहीं की हुई बात जहाँ में फैल न जाय।"[2]

चोचक ने पंचों से हीर की शादी के सम्बन्ध में विचार किया। एक भी पंच इस पक्ष में न था कि हीर और राँझे का विवाह कर दिया जाय।

तब घरवालों ने हीर की अन्यत्र शादी करने की तैयारी की। हीर ने माँ को बहुत बुरा-भला कहा। हीर की सहेलियों ने पहले तो राँझे के साथ सहानुभूति व्यक्त की, बाद में हीर को ख़ूब आड़े हाथों लिया। हीर ने राँझे की शिकायत की। मैंने उसे बहुत समझाया कि मुझे लेकर भाग चल। मैं क्या करूँ, वह मूर्ख समझता नहीं।

सखियाँ राँझे को छिपाकर ले आयीं। राँझे और हीर की बातचीत।

---

1. तेरी झुग्गी नूँ फेर बनवा देसाँ,
   जेहड़ी लाम वल्लों अन्हाँ साड़्याँ वे।
   तैंनूं पोस्त अफ़ीम ते भँग देसाँ,
   हीर जो कुछ चा बगाड़्या वे॥
2. कर चुप न बोल तूँ बावला वे
   जाय खिएड जहान विच गॅल कीती॥

उधर ज़ोर-शोर से शादी की तैयारियाँ होने लगीं। मिठाइयाँ, गहनों तथा कपड़ों का वर्णन वारिसशाह के बहुश्रुत होने की अद्भुत गारंटी है। जब बरात आयी तब राँझा बुरी तरह चिन्तित हो उठा। कहता है—

"आज राँझे 'प्रेमी' को कौन पूछता है! आज तो हीर बेगम हो चली है और 'खेड़ा' नवाब हो चला है। इस ज़िन्दगी से तो मौत अच्छी। बिना यार के जीना मुसीबत हो गया है। दुनिया कहती है कि चोचक ने बड़ा भारी ज़ुल्म किया। वह अपना क़ौल हारा और ईमान ख़राब किया। राँझा हीर के लिए ही भैंसें चराता था, यह बात सारे पंजाब में फैल गयी थी।"[३]

शादी की तैयारी हो चुकी है। क़ाज़ी निकाह कराने के लिए आता है। हीर और क़ाज़ी की बातचीत में वारिसशाह को एक बार फिर 'ऊधो के उपदेश' को पूरी फटकार सुनाने का अवसर मिलता है। क़ाज़ियों के बारे में हीर के कठोरतम शब्द वारिसशाह की अपनी सम्मति मालूम होती है। हीर कहती है—

"जब सारी दुनिया में शोक मनाया जाता है, तब इन क़ाज़ियों के घर शादियाँ होती है।......इनकी शक्ल मोमिनों का है, किन्तु काम मूज़ियों के हैं, ये तो शैतान के अवतार हैं। ज़ोर-ज़बर्दस्ती किसी का निकाह करा देना, यह किस धर्म-ग्रन्थ में लिखा है! वारिसशाह कहता है कि जिन आशिक़ों को, जिन प्रेमियों को भगवान ने ही स्वतन्त्र बनाया उन्हें कौन क़ैद कर

---

३. अज्ज कौन पुच्छे राँझे चाक ताईं,
बेगम 'हीर' ते खेड़ा नवाब होया।
भली मौत आखे राँझा ज़िन्दगी तों,
जीवन यार दे वाझ्‌ज अज़ाब होया।
लोक आखदे चोचक ने .ज़ुल्म कीता,
हारे क़ौल ईमान ख़राब होया।
राँझा 'हीर' पिच्छे महीं चारदा सी,
मशहूर-सी विच पंजाब होया॥

सकता है।"[1]

हीर को किसी भी तरह शादी के लिए तैयार न होते देख क़ाज़ी ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसका निकाह करा देता है। खेड़े हीर को ज़बर्दस्ती ले चलते हैं। जाते-जाते हीर को राँझे से मिलने का एक मौक़ा हाथ लग जाता है। उस समय हीर कहती है—

"आ राँझे, जाते समय दोनों एक बार गले मिल लें। अब तो सारी उमर आँखें तरसती रहेंगी। एक दूसरे को आख़िरी बार देख लें।"[2]

जाते-जाते हीर राँझे को सलाह दे जाती है कि किसी 'जोगी' का भेस बनाकर वह उससे आ मिले।

"हीर के चले जाने पर राँझे की भाभियाँ फिर उसे वापस लौट आने के लिए चिट्ठी भेजती हैं। राँझे का उत्तर है—

आयु और समय एक बार चले जाने पर फिर वापस नहीं आते। कर्म और भाग्य भी वापस नहीं लौटते। समुद्र की लहर भी लौटकर नहीं आती। एक बार छूटा हुआ तीर भी लौटकर नहीं आता। मरे हुए भी लौटकर नहीं आते। समय भी नहीं लौटता। ज़बान से निकली हुई बात वापस नहीं आती। शरीर में से निकली हुई 'आत्मा' वापस नहीं आती। कई बुद्धिमान

---

१. जदों जग्ग जहान् ते सोग होवे,
तदों काजियाँ दे घर शादियां वे।
शक्ल मोमनाँ दी, कॅम्म मूजियाँ दे,
एहताँ असल शैतान दियाँ वादियाँ वे।
चोरी पढ़न निकाह ते ज़बर्दस्ती,
कदों लिखिया हुक्म एह हादियाँ वे।
वारिस आशिकों नूँ कौन कैद करदो,
जिन्हां बख़्शियाँ रब आज़ादियां वे।

२. 'हीर' आख्या आखदी राँझया वे,
गलीं लग्ग मिलिये जाँदी वार दोवें।
नैन तरसदे रहणगे उमर सारी,
कीसे दीदा ना आख़री वार दोवें॥

कहते हैं कि जहान को छोड़कर गयी हुई जान भी वापस नहीं आती। यदि ये सब वापस आ जायँ तो राँझे यार भी वापस आ सकते हैं। अभी तक पशुओं को चराने में जीवन बरबाद करते रहे, अब इश्क़ में जीवन बरबाद करेंगे। राँझे यार अब इस स्थान को छोड़ कहीं (किसी जोगी के पास) जाकर कानों में छेद करायेंगे। या तो अपना जीवन ही समाप्त कर देंगे, अथवा हीर जट्टी को ही बाँध लायेंगे।"[1]

भाभियों को विश्वास हो गया कि अब राँझा कभी वापस न आयेगा।

हीर अपनी ससुराल में जाकर क़ैद हो गयी। वारिसशाह ने बारह-मासा में हीर के वियोग-संताप का अद्भुत वर्णन किया है।

एक जट्टी हीर और राँझे के बीच में मध्यस्थ बनती है, परिणामतः राँझा जोगी बालनाथ का शिष्य बन जाता है। स्वामी रामतीर्थ का एक गीत प्रसिद्ध है कि "बाबा! मौज फ़क़ीरां दी।" ज़रा वारिसशाह के सन्यासी-जीवन के वर्णन को पढ़िए—

---

१. गयी उमर ते वक़्त फिर नहीं मुड़दे,
गये कर्म ते भाग न आँवदे नी
गयी लहर समुँदरों तीर छुट्टा,
गये मरन दे समय न आँवदे नी
गयी गल्ल ज़बान थीं नहीं मुड़दी;
गये रूह कलबूत न आँवदे नी
गयी जान जहान थीं छड्ड जुस्सा,
कई होर सयाने फ़रमाँवदे नी,
मुड़ ऐतने फेर जे आँवदे नी.
राँझे यार होरीं मुड़ आँवदे नी
अयो वाहियो चा गवायोने,
हुन इश्क थीं चा गँवावदे नी
राँझे यार होरां एही थां छड्डी,
किते जाके कँन पड़वांवदे नी
इक्के अपनी जिन्द गवाँवदे नी,
इक्के 'हीर' जट्टी बन्ह लयाँवदे नी।

वह सारे गाँव को आह्वान करता फिरता था कि यदि कोई फ़क़ीर होना चाहे तो आये। माँग कर खाना। काम-काज कुछ नहीं करना है। न किसी पशु को चराना है, न किसी को चोना है। ज़रा कान फड़वा कर राख भर मल लेनी है। फिर सारे जहान का गुरु बन जाना है। किसी प्रकार का भी कोई रोज़गार नहीं करना पड़ेगा। मुफ़्त में ही 'नाद-शाह' बन जायगा। न फिर किसी के जन्म लेने पर दुहाई देनी है और न किसी मरे हुए को ही रोना है। माँग खाना है और मसजिद में रहना है। न किसी का कुछ देना है और न किसी से कुछ लेना है। दिल को दुनिया के मैल से पाक कर लेना है। ईर्ष्या के दाग़ को दिल से मिटा देना है। कमर कस कर किसी की हाज़री नहीं देनी। किसी के सामने हाथ जोड़कर खड़ा नहीं होना। हर किसी से अपनी सेवा करा लेनी है और 'वली', 'पीर' तथा फ़क़ीर कहलाना है। (मियाँ वारिस कहते हैं) कि अपनी ख़ुशी उठना है अपनी नींद सोना है।"[1]

राँझे और गुरु बालनाथ की बातचीत के विस्तृत वर्णन से वारिसशाह की योग-परम्परा की जानकारी पर ख़ासा प्रकाश पड़ता है। गुरु बालनाथ राँझे को दीक्षा देने को तैयार हो जाते हैं। चेले आपत्ति करते हैं। कहते हैं—हम अधिकारियों को तो 'दीक्षा' नहीं दी जा रही है, एक नवागन्तुक

---

1. हॉका फिरे देन्दॉ पिण्डॉ विच सारे, आओ किसे फ़क़ीर जे होवना जे
मँग खावना कँम न काज करना, न कुझ चारना ते कुझ चोवनाजे
ज़रा कन्न पड़ाके सवाह मलनी, गुरु सारे जगत दा होवणा जे
न दिहाड़ी न कसब रोज़गार करना, नाद शाह फिर मुफ़्त दे होवना जे
न देनी दोहाई फेर जँमने दी, किसे मोये नूँ मूल न रोवना जे
मँग खावना अते मसीत सोना, न कुझ देवना ते न कुझ लेवनाजे
दिलों मैल जहान दी पाक करनी, दाग़ हिरस प्लीत दा धोवनाजे
कमर कस्सके हाज़री नहीं देनी, हत्थ बन्ह के नहीं खलोवनाजे
हर किसे तों टहल करा लैनी, वली पीर फकीर सदोवना जे
ख़ुशी अपनी उठना मियाँ वारिस, अते अपनी नींदरे सोवना जे।

को 'दीक्षा' दी जा रही है। बालनाथ अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हैं और राँझे को दीक्षा दे देते हैं। जब वे वैराग्य और विशेष रूप से एकाकी जीवन का आग्रहपूर्ण उपदेश देते हैं, तब राँझे से बिना आपत्ति किये नहीं रहा जाता। कहता है—

"यदि मैं जानता कि तू मुझे बाद में इश्क से मना करेगा, तो मैं तेरे टीले पर पैर न रखता।"[१]

गुरु बालनाथ ने राँझे के 'सत्य' से प्रभावित होकर भगवान से राँझे के लिए प्रार्थना की। भगवान ने स्वीकार कर ली।

गुरु का आशीर्वाद ले राँझा खेड़ों की ओर चल दिया।

राँझा हीर की ससुराल पहुँचा तो वहाँ भेड़ चरानेवाले 'पाली' ने उसे पहचान लिया। उसने सलाह दी—"किसी को पता लगने से पहले भाग जाओ।" राँझे और पाली की बातचीत में राँझा कहता है—

"भाई बैठ, किसी का भेद प्रकट करना अच्छा नहीं। मर्द वही है जो देखकर भी दम घुटा रखे। वारिसशाह कहता है कि चाहे जान का ताला टूट जाय किन्तु भेद रूपी सन्दूक़ नहीं खुलना चाहिए।"[२]

पाली भी कहता है—

"हमने राँझे यूँ ही मज़ाक़ किया था। जा देख ले यदि तेरा दाँव लगता हो तो लगा ले।"[३]

राँझा रंगपुर पहुँचता है तो स्त्रियाँ आ घेरती हैं। सभी अपनी-अपनी मुराद बर आयी देखना चाहती हैं। हीर के यहाँ भी राँझे की ख़बर पहुँच गयी। हीर अन्दर ही अन्दर ज़ारोज़ार रोती है। जब हीर के आग्रह

---

१. जे मैं जानदा इश्क थीं मना करना, तेरे टिल्ले ते धार न धारदा मैं।

२. राँझे आखया पालीनूँ बैठ भाई भेत किसे थी मूल न फुट जावे।
भेत दस्सना किसे दा भला नाहीं, मर्द ओही जो देख दम घुट जावे।
वारिसशाह न भेद संदूक खुल्ले भावें जानदा जन्दरा टुट जावे।

३. असाँ राँझया हसके गल्लकीती जा देख लै दाँ जे लगदाई।

से हीर की सखियाँ राँझे को घर चलने को कहती हैं, तो राँझा 'जोगी' के ठाठ में उत्तर देता है—

"लोग तो शरबत और भंग छानते हैं। हम आदमियों को ही अपनी नज़र में से छानते हैं।"[२]

जब हीर की सहेलियों ने राँझे के 'परिचय' के लिए आग्रह किया, तो 'जोगी' ही बोला—

"मुझे हैरान न करो। शेर और साँप का देश कैसा? कूज़ों की तरह से हमने अपना देश छोड़ दिया। हमारी जाति सिफात और भेष क्या? हमारा वतन हमारी जान के साथ है। हमारी जाति जोगी है। हमारा रिश्ता-सम्बन्ध कैसा? जो 'वतन' और 'जात' की बात सोचे, वह तो दुनियादार है, वह कोई दरवेश नहीं है। हमारा दुनिया से क्या सम्बन्ध? सरेश से कहीं पत्थर जुड़ सकता है! जो ख़ाक में मिलनेवाले हैं उन के लिए ऐश-आराम कैसा?"[३]

---

२. लोग छानदे भंग ते शरबताँनूँ
असी आदमी नज़र विच छानदे हाँ।

३. राँझे आख्या पिच्छे न पओ मेरे,
शींह सप्प फ़क़ीर दा देस केहा
कुंजाँ वाँग ममोलियाँ देस छड्डे
असाँ जात सफात ते भेस केहा
वतन दमा दे नाल ते जात जोगी
साडा साक कबीलड़ा ख्वेश केहा
जेहड़ा वतन ते जात वॅल ध्यान रॅखे
दुनियादार है ओह दरवेश केहा
दुनियाँ नाल पेवँद ना कोई साडा
पत्थर जोड़ना नाल सरेश केहा
जिन्हाँ खाक दर ख़ाक फ़नाह होना
वारिसशाह फिर तिन्हाँनूँ ऐश केहा।

लड़कियों के लाख आग्रह करने पर भी 'जोगी' उनके साथ नहीं जाता। लड़कियाँ जाकर हीर को सूचना देती हैं। हीर को बुरा लगता है। लड़कियाँ और हीर आपस में विस्तृत चर्चा करती हैं।

आख़िर राँझा एक दिन भीख माँगने निकलता है। हीर के आँगन में पहुँचता है तो वहाँ हीर की ननद सहेली से बातचीत होती है। सहेली 'नास्तिकता' का पूरा अवतार है। वारिसशाह ने सहेली के मुँह से जो स्त्री पक्ष की वकालत करायी, वह एक से अधिक बार पढ़ने लायक़ है। जोगी भी सहेली से किसी तरह कम नहीं। पृष्ठ दर पृष्ठ इसी वार्तालाप को जारी रखकर कवि ने अपने काव्य-कौशल का अनुपम परिचय दिया है। जोगी एक स्थल पर कहता है—

"कश्मीर जैसा कोई मुल्क नहीं। चन्द्रमा के प्रकाश सदृश प्रकाश नहीं। प्रेम-पात्र (माशूक़) आँख के सामने हो तभी मज़ा है। ढोल की आवाज़ दूर से ही सुन्दर लगती है। हींग जैसी और दूसरी बदबू नहीं। कचूर जैसी कोई गन्ध नहीं। क़ब्र (में) की प्रतीक्षा जैसी कोई प्रतीक्षा नहीं। मौत के रास्ते जैसा कोई अनिवार्य रास्ता नहीं।। मार (काम) जैसा कोई मूज़ी नहीं। सूअर जैसा कोई बेग़ैरत नहीं। वारिसशाह जैसा कोई गुनहगार नहीं। भगवान् जैसा कोई क्षमावान नहीं।"[४]

राँझे और सहेली की रहस्यभरी बातचीत सुनते-सुनते हीर ने राँझे को पहचान लिया। सहेली दोनों के सम्बन्ध को समझ गयी। इसलिए और भी कठोर हो गयी।

---

४. कशमीर जेहा कोई मुल्क नाहीं, नहीं चानणा चन्द दे नूर जेहा
अगे नजर दे मज़ा माशूक़ दा ए अते ढोल सुहावना दूर जेहा
हींग जेह न होर बदबू कोई बासदार न होर कचूर जेहा
क़ब्र जेह नाहीं इन्तज़ार कोई पन्ध मौत दा दुरन ज़रूर जेहा
मूज़ी नफ़स दे जेह पलीद नाहीं, बेग़ैरता बुरा न सूर जेहा
वारिसशाह जेहा गुनहगार नाहीं, बख़्शनहार न रॅब ग़फ़ूर जेहा।

हीर ने जोगी को इशारा किया कि वह चुप रहे और स्वयं सहेली के साथ दो-चार हुई। सहेली जोगी के बारे में कहती है—

"यदि यह अपने आप को छैला समझता है, तो हम भी नरों के मुक़ाबले की नारियाँ हैं। यदि यह ज़िद्द की छुरी है, तो हम स्त्रियाँ भी तेज़ कटारियाँ हैं। इस चाक की क्या सामर्थ्य है! हम राजा भोज से भी नहीं हारी हैं। वारिसशाह कहता है कि सफ़ेद-पोशों के बीच हम होली के रंग की पिचकारियाँ हैं।"[१]

अंत में जोगी को किसी-न-किसी तरह घर से बिदा करने के इरादे से सहेली ने बाँदी से कहा कि जा उसके ठूठे में कुछ डाल कर उसे बिदा कर दे। बाँदी नहीं गयी। तब सहेली स्वयं पहुँची। जोगी के हाथ से कासा गिर पड़ा और टूट गया। जोगी ने सहेली पर कासा फोड़ देने का इलज़ाम लगाया। सहेली का उत्तर था—

"जो कोई पैदा हुआ है वह एक-न एक दिन अवश्य मरेगा। जो कुछ गढ़ा गया है वह टूटेगा ही। सभी प्रवाह बहेंगे ही। जब ईश्वर कर्मों का हिसाब-किताब पूछेगा, तब हाथ-पैर ही साक्षी देंगे।"

ठूठे को लेकर सहेली और जोगी की बातें हो ही रही थीं कि हीर भी बीच में उलझ पड़ी। अब सहेली बहुत उत्तेजित हो गयी। उसने हीर को तो कमरे के अन्दर बन्द कर दिया और बाँदी को साथ ले जोगी को

---

१. ऐह आपनूँ छैल सदाँवदाए,
असीं नराँ दे नालदियाँ नारियां हाँ।
जे ऐह जिद्दडी छुरी हे हो बैठा,
असी रन्नाँ भी तेज़ कटारियाँ हाँ।
ऐस चाकदाकी मजाल है नी,
राजे भोज की असीं न हारियाँ हाँ,
वारिसशाह विच हक़ सफ़ैदपोशाँ,
असीं होली दे रंग पिचकारियाँ हाँ।

खूब पीटा। राँझे ने भी सहेली और बाँदी दोनों को एक साथ पीटा। तब दोनों ने पड़ोसियों को बुला लिया। उन्होंने भी आकर जोगी को बहुत पीटा।

निराश जोगी तपस्या करने बैठा। लड़कियों ने आकर उसकी 'धूनी' बरबाद कर दी। राँझा उन्हें मारने के लिए उठा। सभी भाग गयीं। एक सहेली क़ाबू में आ गयी। राँझे ने उसका हाथ पकड़ लिया। लड़की ने मिन्नत करके जान बचायी और राँझे का क़ासिद बनना स्वीकार किया।

जब लड़की ने हीर तक राँझे का सन्देश पहुँचाया तो हीर का उत्तर था—

"लड़की! देख, राँझे ने बड़ी कच्ची बात की, दिल की बात खोल कर फैला दी। मंसूर ने इश्क़ का भेद प्रकट होने दिया था। उसे तुरन्त सूली पर चढ़ना पड़ा। इस जहान की रीति यही है कि आदमी चुप रहे। जो मुँह से बोलता है, वही मारा जाता है।"[१]

लड़की ने हीर को राँझे के पास जाने को कहा। हीर जाय तो कैसे जाय? उस ने सहेली की .खुशामद शुरू की। .खुशामद से सहेली धीरे-धीरे बदल गयी। उसने थाल में खाँड-मलाई रखी और नक़द पाँच रुपये। जोगी के साथ पूर्ववत् ही बात करते हुए सहेली ने पूछा—"अच्छा, बता तो इस थाल में क्या है?" जोगी ने जवाब दिया—"पाँच लाल-लाल पैसे तथा चावल और खाँड।"

पाँच पीरों की बरकत से सहेली जो कुछ थाल में रखकर लायी थी, वह पाँच पैसे और चावल खाँड ही बन गया था।

---

१. कुड़िये देख राँझे टड्डे कँच कीता,
भेद जीव दा खोल पसारयाई।
मंसूर ने इश्क़ दा भेद दित्ता,
ओहनूँ तुरत सूली उत्ते चाढ़याई।
रसम ऐस जहानदी चुप रहना,
मूहों बोल्या सोइ ओह मारयाई।

सहेली की जोगी में अडिग श्रद्धा हो गयी। उसने अपने अभी तक के सारे व्यवहार के लिए 'जोगी' से बहुत क्षमा प्रार्थना की और भविष्य में उसकी हर तरह से आज्ञाकारिणी बने रहने का विश्वास दिलाया।

राँझे ने सहेली को अपना क़ासिद बनने और हीर से मिला देने की कही। सहेली ने जोगी से मिल सकने की मुराद माँगी। जोगी ने तथास्तु कहा।

जब सहेली ने हीर को राँझे का सन्देश पहुँचाया तो हीर बोली—

"राँझा मारे फ़िराक़ के मरा पड़ा है। मैं उसे ईसा की तरह जिलाऊँगी। देख पतंग को शमा पर अंग लगाकर जलाऊँगी।"[१]

हीर और राँझे के मिलन का चित्र ज़रा वारिस्शाह की नज़रों से देखिए—

"दौलत के मालिक को वह सारी दौलत पृथक्-पृथक् करके दिखा रही है। वह ईमान के साथ अमानत को वैसी ही वापस ले आयी है।[२] पहले उसने विश्वासपूर्वक राँझे के पैर पकड़े, फिर कलेजे से लग गयी। क्या अद्भुत दृश्य दिखायी दिया। पतंगे पर आग जल मरी।"[३]

---

१. मोया पेया है नाल फ़िराक़ राँझा,
ईसा वाँग मुड़ फेर जगाऊँगी हाँ।
वारिस्शाह पतंग नूं शमा उत्ते,
अँग लायेके देख जलावनी हाँ॥

२. मालक माल दे नूं सभ खोल
दौलत वखो वखकर चा वखाँवदीए
एवें अमन अमान अमानताँदी,
साबतनाल ईमान ले आंवदीए।

३. अव्वल पैर पकड़े एतक़ाद करके,
फेर नाल कलेजे दे लग गयी।
नवाँ तौर अजूबे दा नज़र आया,
देखो जल पतंग ते अँग गयी।

अब हीर और सहेली ने मिलकर एक षड्यन्त्र रचा। सब सहेलियों को साथ ले वे खेत में कपास चुनने गयीं। जैसे-तैसे माँ को समझा-बुझाकर सहेली हीर को भी साथ ले चलने में सफल हो गयी थी। वहाँ हीर को काँटा चुभ गया। 'साँप-साँप' का हल्ला मचा दिया। साँप को किसी ने देखा न था। सभी ने हल्ला किया कि साँप ने काट खाया, साँप ने काट खाया।

हीर बेहोश अवस्था में घर लायी गयी। सहेली ने जोगी वैद्य को बुलाने की सलाह दी। हीर के पति सैयदा को ही जोगी को ले आने के लिए भेजा गया। उसे खास ताकीद कर दी गयी कि बहुत ही मिन्नत से काम ले।

बेचारे सैयदा ने बहुत ही मिन्नत-समाजत से काम लिया। जोगी को विश्वास दिलाया कि हीर अनछुआ फूल है। लेकिन फिर भी राँझे ने उसके साथ जाना स्वीकार नहीं किया। झगड़ा बढ़ा कर उसने सैयदा को खूब पीटा।

सैयदा जाकर पिता के पास रोया। सहेली ने उलटा उसी का दोष ठहराया कि उसने जोगी के साथ अदब का बरताव नहीं किया होगा। उसी का इसे दण्ड मिला है।

तब सैयदा का पिता स्वयं जोगी के दरबार में हाज़िर हुआ। उसके बहुत मिन्नत-समाजत करने पर जोगी हीर की चिकित्सा करने चला आया।

जोगी का चिकित्सा-क्रम था—अकेली कोठरी में हीर का पलंग बिछा कर, उसके पास मंत्रोच्चारण की व्यवस्था की जाय।

मौक़ा पाकर सहेली, हीर और राँझा एक साथ भाग खड़े हुए। रास्ते में एक शेर मिला। पाँचों पीरों का भरोसा रख राँझे ने उसका काम तमाम कर दिया।

आगे चलने पर राँझे को ऊँघ आयी। उसने सोना चाहा। हीर ने उसे सोने से बहुत मना किया। राँझा एक न माना। सो ही गया। सोते में हीर, राँझा और सहेली तीनों एक साथ पकड़े गये।

राँझे ने राजा का नाम लेकर शोर मचाया। राजाज्ञा से खेड़े पकड़े

गये। खेड़ों ने राजा के पास रोना-धोना किया। राँझे ने जवाब दिया। क़ाज़ी के .फैसले के अनुसार हीर खेड़ों को सौंप दी गयी।

हीर और राँझा दोनों ने शाप दिया।

आशिकों के अभिशाप में बड़ा असर होता है। सारे नगर में आग लग गयी। ज्योतिषियों से जब कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि हीर और राँझा के साथ न्याय नहीं हुआ, उसी का यह भयानक परिणाम है। राजा ने हीर और राँझे को दरबार में हाज़िर कराया और खुले दरबार हीर से कहा—

"बीबी, जिसका भी तू अपने ऊपर हक़ समझती हो उसका पल्ला पकड़ ले और ईमान को साफ़ करके असन्दिग्ध हो उसकी बाँह पकड़ कर ले जा।"

हीर और राँझे ने राजा को लाख-लाख दुआएँ दी। दोनों स्याल गये। हीर के माँ-बाप ने राँझे को बारात लाकर बाक़ायदा शादी कर ले जाने के लिए कहा।

राँझा तख़्त हज़ारे चला गया।

हीर के लंगड़े चाचा कैदो को चैन न थी। उसने हीर को सूचना दी कि राँझे को तो मार डाला गया है। हीर राँझे की याद करती-करती मर गयी। कैदो ने ही जाकर राँझे को हीर की मृत्यु की सूचना दी। राँझा हीर की याद करता-करता मर गया।

यह हीर-राँझे का अनन्त मिलन हुआ अथवा अनन्त बिछुड़न? सुखान्त कथानक एकाएक दुखान्त हो गया—एक टीस-सी हृदय में पैदा करके।

मैंने भी एक दिन सिगरेट पी थी

जब भी मैं किसी को सिगरेट अथवा बीड़ी पीते देखता हूँ, मुझे अपना एक दिन का सिगरेट पीना याद आ जाता है। उसकी कथा इस प्रकार है—

जिस परिवार में मैं पैदा हुआ था, उसमें दुकान पर हुक्के का चलन खूब था। चौबीस घंटे में शायद ही कोई ऐसा समय हो, जब हमारी दुकान पर हुक्के की गुड़-गुड़ न सुनायी देती हो—अपवाद थे रात के तीन-चार घंटे। किन्तु मेरे पिता जी सिख न होते हुए भी गुरू नानक के बड़े भक्त थे। ऐसे भक्त कि हुक्के से वे वैसे ही डरते थे जैसे बंदर गुलेल से। अपने पिता श्री के लिए बंदर की उपमा देने के लिए पाठक मुझे क्षमा करें। कोई भी उपमा चतुर्मुखी नहीं होती और यदि हो भी तो विकासवाद के इस युग में 'बंदर की औलाद' कहलाना क्या कोई बड़ी निंदा की बात है? उनके बारे में मैंने सुना था कि जब पिता जी का विवाह हुआ था तो उस समय न जाने लोग कहीं से एक हुक्का ले आये। पिता जी विवाह छोड़ भाग खड़े हुए। अब इससे बढ़कर किसी को हुक्के से और क्या घृणा होगी।

हाँ, उनका पुत्र होकर मैंने एक दिन सिगरेट पी थी।

मेरे मामा थे—बड़े मीठे। यूँ तो चन्द्रमा तक को 'मामा' कहा गया है,

और वह तो थे हर बार मिठाई लाने वाले मामा। वे सिगरेट पीते थे। हुक्के के अतिरिक्त। हुक्का झंझट की चीज़ है—भारी भरकम। पीना हो तो सबके सामने ही पीना होता है। सिगरेट है कि मज़े में अकेले में पी जा सकती है। वे सिगरेट पीते थे और उन्हीं के लिए मुझे कभी-कभी बज़ार से सिगरेट लाकर देनी होती थी। रैड-लैम्प। एक पैसे में छ-छः। सिगरेट पीते बहुतों को देखा था, किन्तु मामा का सिगरेट पीना मुझ पर असर कर गया। न जाने कितने 'मामा' इस प्रकार अपने स्नेह-भाजन भानजों के प्रकाश-स्तंभ सिद्ध होते हैं! सिगरेट के लिए भी 'प्रकाश-स्तंभ' शब्द कोई बहुत बुरा नहीं। साथी लड़कों की देखा-देखी, बाबुओं की देखा-देखी और सब से बढ़ कर मामाजी की देखा-देखी मैंने भी सिगरेट पीने का निश्चय किया। अपने साथी लड़कों का-सा बनने के लिए, कुछ अकड़ कर चलने के लिए, कुछ ऊँचा उठ कर चल सकने के लिए, ठीक कहूँ तो जंटलमैन बनने के लिए मैंने सिगरेट पीने का निश्चय किया।

घर से मुझे उन दिनों दो पैसे जेब-खर्च के लिए मिलते थे। एक धेले की तीन सिगरेट बहुत थीं।

सिगरेट घर में तो पी ही नहीं जा सकती थी। बाहर ही पी जा सकती थी। बाहर चाहे हज़ार देखने वाले हों...छिपना तो परिचितों और घर-वालों से ही होता है। एक पान वाले से धेले की तीन लीं, वही रैड-लैम्प और उसी की दियासलाई से एक जला ली।

रेल का इंजन जब शुरू-शुरू में चलता है तो 'भप-भप' करता है, बस वही हालत मेरी थी। गले तक धुआँ पहुँचने की बात कौन कहे, सफ़ेद दाँत ही काले धुएँ का स्वागत न करते थे। बाहर से बाहर ही गर्दनिया देकर निकाल देते, वैसे ही जैसे साउथ-अफ़्रीक़ा के गोरे अँग्रेज़ काले हिन्दुस्तानियों को।

जो हो, उस दिन मैंने मन ही मन सभ्य लड़कों में अपनी गिनती की। किन्तु ऐसा सभ्य लड़का किसी के किस काम का, जिसकी सभ्यता को किसी ने देखा न हो। सोचा, खेल के मैदान में आज टूर्नामेंट है, वहाँ चलना चाहिए।

वहाँ देखने वाले बहुत मिलेंगे। लोग खेल के मैदान में जाते हैं टूर्नामेंट देखने के लिए और मैं उस दिन जा रहा था अपने को दिखाने के लिए। क्या करूँ ? खेल का मैदान कुछ दूर था और इधर 'भप-भप' करके चलती हुई मेरी सिगरेट समाप्त हो चली।

एक नयी समस्या पैदा हुई! यह सिगरेट बुझ चली है और पास में दियासलाई नहीं! खेल के मैदान में पहुँचकर किसी को क्या दिखाऊँगा। मैंने दूसरी सिगरेट जला ली। अब फिर मेरी रेलगाड़ी नयी रफ़्तार से 'भप-भप' करती आगे बढ़ी।

किन्तु यह क्या, खेल के मैदान में कोई है ही नहीं! मुझे टूर्नामेंट की ग़लत सूचना मिली थी। टूर्नामेंट आज न होकर किसी दूसरे दिन था। मैं दो-दो सिगरेट जला चुका था और मेरे उस सभ्य-रूप को अभी तक किसी एक आदमी ने भी न देखा था!

आदमी जब किसी भी कल्पना के वशीभूत हो जाता है तो वह जल्दी हार नहीं मानता तो मैं भी जल्दी हार मानने वाला नहीं था। सोचा किसी न किसी को तो आज अपनी इस प्रगति से परिचित कराके ही रहूँगा। पुराण-प्रसिद्ध नारदमुनि को अपनी शक्ल दिखाने की उत्सुकता, उस दिन की मेरी उत्सुकता से कम ही रही होगी।

वापसी पर घर के रास्ते में एक सहपाठी रहते थे। सोचा, कोई एक भी तो मेरे आज के इस सभ्य रूप का साक्षी बने!

अब तक दूसरी सिगरेट भी बुझ चली थी। पास में दियासलाई थी ही नहीं। तीसरी सिगरेट जला लेने के सिवाय कोई चारा न था। मैंने अपनी अंतिम और तीसरी सिगरेट जला ली। भप-भप करती हुई गाड़ी मित्र के घर ही रुकी। मुँह से सिगरेट हाथ में ली। उसे पीछे छुपाकर अपने साथी को आवाज़ दी। साथी घर से निकल आया। सिगरेट पीछे छिपी थी। उसका ध्यान मेरी सिगरेट की ओर आख़िर कैसे आकर्षित होता! जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इतनी दूर चलकर आया था वह पूरा ही नहीं हुआ। आख़िर मैंने स्वयं अपनी सिगरेट उसे दिखाते हुए कहा—यार! किसी से कहना नहीं

कि मैं सिगरेट पीता हूँ।

कोई पूछे यदि अपना सिगरेट पीना छिपाकर ही रखना था तो इतना द्रविड़-प्राणायाम करके जनाब उसे प्रगट करने के लिए अपने साथी के घर गये ही क्यों! इसका उत्तर यही है कि यह मन के लुकछिपाओं के खेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। आदमी किसी बात को सभी से छिपाकर भी नहीं रखना चाहता और सभी पर प्रगट भी नहीं करना चाहता। वह पूरा-पूरा छिपाकर भी नहीं रखना चाहता और पूरा-पूरा प्रगट भी नहीं करना चाहता। कभी-कभी तो ऐसा लगता है इसी अर्द्ध-गोपन और अर्द्ध-प्रगटीकरण में जीवन की सारी कला और सारी सरसता निहित है।

मित्र के घर से विदा हुआ तो तीनों जल चुकी थीं और एक हद तक उस दिन का सिगरेट पीने का उद्देश्य भी पूरा हो चुका था। अब सिगरेट ने अपना प्रभाव दिखाना आरम्भ किया। हल्का-हल्का सिर-दर्द आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। घर पहुँचते-पहुँचते सिर फटा जा रहा था। जीवन का सिगरेट पीने का पहला और आख़िरी दिन और एकदम एक साथ तीन और वह भी रेड-लैम्प...जिनके बारे में सुना था कि तम्बाकू तो कम, किन्तु घोड़े की लीद ही अधिक रहती है।

शाम होती गयी और सिर दर्द बढ़ता गया। उसे व्यथा कहूँ, वेदना कहूँ अथवा पीड़ा कहूँ, जिस शब्द से भी आपको तीव्रतम कष्ट का बोध होता हो उसी का प्रयोग कर लीजिए। पिता जी अभी बाहर से घर न आये थे। डरता मैं माता जी से भी था, किन्तु पिता जी का डर कुछ दूसरी ही चीज़ था। माता जी से भविष्य में उनकी सब आज्ञायें मानने का समझौता इस शर्त पर हुआ कि वह आज पिता जी से येन-केन प्रकारेण मेरी रक्षा कर दें। माता जी के आदेशानुसार मैं कुएँ पर गया। बड़ी देर तक सिर पर ठंडा पानी डालता रहा। उससे जैसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। हुआ अवश्य होगा, किन्तु पहले ही दिन तीन रैड-लैम्पों की गर्मी क्या इतनी आसानी से उतर सकती थी?

रात भर मुँह तक ओढ़े पड़ा रहा। न खाया न पिया। माता जी ने पिताजी

से कुछ कह कर टाल दिया। उन्होंने भी शाम से ही लेट जाने का कारण जानने के लिए बहुत आग्रह नहीं किया।

कहीं पिता जी को पता लग जाता कि मैंने उस दिन सिगरेट पी थी तो वे बिना कड़ा दण्ड दिए न मानते। वे यह तनिक भी न सोचते कि सिगरेट पीने का कड़ा दण्ड तो इस ग़रीब को मिल ही गया है...सिर में इतनी पीड़ा हो रही है। वे मुझे अवश्य दण्ड देते।

उस दिन की उस 'वेदना' को याद करके मैं आज भी काँप उठता हूँ। सोचता हूँ, तीन रैड-लैम्पों ने ही मुझे इस बुरी तरह जला दिया था और लोग तीस-तीस सिगरेट फूँक देते हैं। कैसे? शनैः शनैः आदमी को विष खाने का भी अभ्यास हो जाता है, सिगरेट तो बिचारी सिगरेट है।

यदि किसी आदमी ने सिगरेट न देखी हो और आपको उसे यह बताना हो कि सिगरेट क्या वस्तु है तो आप बड़े मज़े से कह सकते हैं कि सिगरेट काग़ज़ और तमाखू की बनी हुई एक छोटी-सी नली है, जिसके एक सिरे पर आग रहती है, दूसरे सिरे पर मूर्ख आदमी।

प्रश्न उठता है कि आदमी सिगरेट क्यों पीता है? एक ही कारण से, उसी एक कारण से जिस कारण से आदमी बीड़ी पीता है, गाँजा पीता है, अफ़ीम खाता है और शराब पीता है। वह कारण है संगति-दोष। संगति-दोष से आदमी इन नशे-रूपी पशुओं की सवारी करता है, किन्तु अचिर काल में ही ये पशु उस आदमी पर सवार हो जाते हैं। वह स्वयं डाली हुई आदत का ग़ुलाम बन जाता है।

क्या इन नशों में 'मज़ा' नहीं होता? नहीं ही होता। यदि 'मज़ा' हो तो प्रथम अनुभव ही मज़ेदार होना चाहिए। छोटे बच्चे मिर्च से कितना घबराते हैं। आदमी को अभ्यास न हो तो थोड़ी-सी मिर्च बड़े से बड़े आदमी की आँख से भी आँसू निकाल देती है, किन्तु स्वयं मिर्च खाने वाले जब शनैः शनैः दूसरों को भी उसकी आदत डाल देते हैं तो मिर्च में भी मज़ा आने लगता है।

मैंने बड़े-बूढ़ों को छोटे बच्चों को सिगरेट-बीड़ी और हुक्के की लत

लगाते देखा है। आदमी जो कुछ स्वयं खाता-पीता है वही तो अपने भगवान् को चढ़ाता है। बड़े-बूढ़े छोटे बच्चों को सिगरेट, बीड़ी, हुक्के आदि की आदत डालते हैं तो समझते हैं कि हम उस पर अपना स्नेह प्रगट कर रहे हैं। काश! वह अपने ऐसे स्नेह को अपने तक ही सीमित रखा करें। अभागे बच्चों का भविष्य न चौपट किया करें।

और यह 'मज़ा' जब शनैः शनैः सचमुच 'मज़ा' बनने लगता है तो साथ ही साथ वह घटना शुरू हो जाता है। अनेक दूसरी चीज़ों की तरह मज़े का भी न कोई माप है न तोल। किन्तु अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं एक सिगरेट के 'मज़े' को एक तोला मान लेता हूँ। गणित के हिसाब से दो सिगरेटों में दो तोला 'मज़ा' आना चाहिए, किन्तु नहीं, बस पौने दो तोले ही रहता है। उस कमी को पूरा करने के लिए यदि आदमी एक सिगरेट और पिये तो उसका 'मज़ा' सवा दो तोले भले ही हो जाय, सम्भव है ढाई तोले ही हो जाय, किन्तु तीन तोले कभी नहीं होगा। आप एक-एक सिगरेट की मात्रा बढ़ाते जाइए, 'मज़े' की मात्रा घटती जायेगी। एक दिन आयेगा कि आपको सिगरेट पीने में कुछ 'मज़ा' न आयेगा, किन्तु न पीने से जो दुःख होगा उसी को मिटाने के लिए आप बिना सिगरेट पिये न रह सकेंगे। ज़रा सोचिए, उस आदमी की क्या दयनीय दशा होगी जिसे पीने में कुछ 'मज़ा' नहीं आता और न पीने से होता है महान् दुःख!

मैंने एक बार एक रियासत के एक मंत्री से जो बड़े पियक्कड़ भी थे, पूछा—"श्रीमान् जी! बिना स्वयं कभी पिये आपके पीने के बारे में मेरी यह राय है कि आपको अब पीने में कुछ 'मजा' नहीं आता होगा, किन्तु आप पीते केवल इस लिए होंगे कि बिना पिये रहा नहीं जाता होगा।" बोले—"स्वामी जी! आप बिलकुल सच कहते हैं।"

उस राज्य के उन मंत्री महोदय के प्रति उस दिन मेरे मन में सच्ची सहानुभूति जाग उठी थी। कितने दया के पात्र थे बेचारे! तब लोग छोड़ क्यों नहीं देते? उन्हें यह सूझता ही नहीं कि नशे से छुटकारा पा लेना ही नशे की झंझटों का एक मात्र इलाज है। और उनके मन में कुछ मिथ्या-

विश्वास भी घर कर जाते हैं। मिथ्या-विश्वास मिथ्या भले ही हों, किन्तु उनके विश्वास होने में कुछ कोर-कसर नहीं होती। सिगरेट के अभ्यासियों को बिना सिगरेट पिये शौच नहीं होता। शौच-क्रिया शारीरिक और मानसिक दोनों हैं। एक बार किसी को यह विश्वास जम जाने पर कि उसके सिगरेट पीने और शौच होने का अविभाज्य सम्बन्ध है, सचमुच यह सम्बन्ध स्थापित हो ही जाता है। जिस प्रकार आदमी स्वयं यह सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उसी प्रकार यदि आदमी चाहे तो शनैः शनैः अपने आपको इस कल्पना-जाल से मुक्त भी कर सकता है। किन्तु यह काम आदमी के अपने करने का है। कोई दूसरा इसमें आदमी की कुछ भी सहायता नहीं कर सकता।

लगभग २५ वर्ष पहले देश में टैम्प्रेंस-प्रचार की चर्चा थी। सिगरेट, बीड़ी, और शराब के विरुद्ध व्याख्यान सुनने में आते थे। अब तो सरकार भी नशीली वस्तुओं के निषेध और प्रचार का काम एक साथ कर रही है। देश और समाज का दुर्भाग्य है कि यह दोनों काम किसी की जीविका के साधन हैं और किसी के व्यापार के।

त्रिपुरी कांग्रेस में कुछ लोगों को ठहरने की काफ़ी असुविधा थी। बीड़ी के एक बड़े व्यापारी ने कांग्रेस पंडाल के पास ही एक बड़ा पंडाल बनाया था, जहाँ उसने अपने मित्रों तथा मित्रों के मित्रों और उनके भी मित्रों को ठहराया था। कांग्रेस की रहने, नहाने, खाने की व्यवस्था से इस बीड़ी के व्यापारी की व्यवस्था बहुत बढ़ कर थी। एक गांधी भक्त मित्र की कृपा से मुझे भी वहीं आश्रय मिला था।

बड़े-बड़े प्रसिद्ध व्यक्तियों का सिगरेटबाज़ होना भी सिगरेट प्रचार का बड़ा कारण है। हमारे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू यथावश्यकता, इधर-उधर ओट में पी लेते हैं, उसका प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु मौलाना अबुल कलाम आज़ाद बड़े ठाट से कांग्रेस-मंच पर ही धुआँ उड़ाने लगते हैं। लड़के देखते होंगे, अपने शिक्षा-मंत्री से कुछ शिक्षा ही ग्रहण करते होंगे। श्रेष्ठजनों के आचरण का अनुकरण ही तो इतर जनों का धर्म है।

रेलों में तो अब सिगरेट, बीड़ी न पीने वाले के लिए मुसीबत है। कहीं- कहीं लिखा रहता है सिगरेट पीना मना है, लेकिन यह उतना ही बेकार है जितना रेल के डिब्बे में बैठने वालों की संख्या का लिखा रहना।

लापरवाही से इधर-उधर फेंके गये सिगरेटों से जो कभी-कभी बहुत हानि होती है, वह उस हानि के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं जो आदमी स्वयं सिगरेट पीकर अपनी करता है।

सिगरेट जलाने वाले समझते हैं कि हम सिगरेट को जलाते हैं, किन्तु सचाई यह है कि सिगरेट ही उनको जलाती है। एक दूसरे प्रसंग में कहा हुआ उर्दू का यह शेर सिगरेट पर भी लागू होता है —

जो जलाता है किसी को ख़ुद भी जलता है ज़रूर,
शमा भी जलती रही परवाना जल जाने के बाद।

यदि कोई सिगरेट की जलन से अपने आपको सुरक्षित रखना चाहता हो तो बेचारी सिगरेट को ही बख़्शे।

नहीं तो यह जलायगी और ज़रूर जलायगी। अपने जलाने वाले को अपनी ही तरह ख़ाक बना कर छोड़ेगी। एक बार 'दाग़' के मुँह में सिगरेट ही बोल उठी थी—

पड़ा फ़लक को कभी दिल-जलों से काम नहीं
जला के ख़ाक न कर दूँ तो दाग़ नाम नहीं।

दो तस्वीरें !

☆

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) की बैठक से लौट रहा था। बिना मेरी जानकारी के दोपहर के भोजन के लिए 'भिक्षापात्र' में कुछ रख दिया गया था। गोंदिया पहुँचकर देखा तो हलवा-पूरी थी।

साथ में थे शिलांग (असम) के सेंट एडमंड कालेज के प्रो० चौधरी। उनसे मिली सहायता के बावजूद मैं यह हलवा-पूरी समाप्त न कर सका।

शाम को मुझे उस हलवा-पूरी की अपेक्षा न थी और दूसरे दिन प्रातः काल मैं कलकत्ते पहुँचने ही वाला था। 'भिक्षापात्र' धोकर रखने के लिए हलवा-पूरी का 'दान' करना अनिवार्य था। मैं किसी 'सुपात्र' को खोजने लगा।

प्लेटफ़ार्म की दूसरी ओर झाँका तो देखा एक 'भिक्षुक' किसी के जूठे आम के छिलकों को उठा-उठा कर उनमें अवशिष्ट माधुर्य के कणों को प्रेमपूर्वक चाट रहा है। ऐसा लगा कि मानो वह किसी उप-सम्पादक से छुटी हुई नयी-नयी प्रूफ़ की ग़लतियाँ निकाल रहा है।

मैंने उस 'सुपात्र' को अपने 'भिक्षापात्र' का यथार्थ अधिकारी माना और आम के छिलकों को छोड़ हलवा-पूरी लेने के लिए आगे आने को कहा। उसने अपने कुर्ते का पल्ला फैला दिया। कहीं असावधानी से मैं अपना

'भिक्षापात्र' उस 'भिक्षुक' के पल्ले में खाली कर देता तो उसके हाथ कुछ भी तो न लगता। अधिकांश मिट्टी में मिल कर मिट्टी हो जाता। उसके कुर्ते का पल्ला ऐसा ही तार-तार था।

यह दूसरी बात है कि किसी 'कणाद' ऋषि की तरह वह भी उस मिट्टी में मिल कर माधुर्य के कणों को किसी-न-किसी तरह चुन लेने का आधा-पूरा प्रयत्न अवश्य करता।

'भिक्षु' ने थोड़ी सावधानी की। उस 'भिक्षुक' को ऊपर गाड़ी में बुला लिया। एक-एक करके उसके हाथों में, कुर्ते में, जैसे-तैसे भी वह हलवा-पूरी समाया, टिका दिया।

एक मुसाफ़िर यह सब देख रहा था। जब एक-एक करके सभी पूरियाँ उस 'भिक्षुक' के हाथों और पल्ले में जा पहुँची और मेरे हाथ में रह गयी केवल एक अन्तिम पूरी तो वह बोला—"मुझे भी तो कुछ दे देते!"

पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ कि वह सचमुच भोजन चाहता है। किंतु मैं जानता हूँ कि भूख सबसे बड़ा रोग है। इसलिए उसकी याचना की ओर ध्यान दे अन्तिम एक पूरी उसी के हाथ में थमा दी।

और देखा उस 'भिक्षुक' से भी पहले वह 'मुसाफ़िर' अपनी पूरी चबा रहा है!

उसकी आकृति कह रही थी—"सावधान। 'अभाव' अपनी चादर फैलाता जा रहा है। सफ़ेदपोश मध्यवृत्त लोगों को भी यह नाति चिरकाल में ही समेट ले सकता है।"

और यह दूसरी तस्वीर है कलकत्ते की। कोई-कोई घिनौना दृश्य भी कितना आकर्षक होता है। उस दिन चलते-चलते मैंने अपने साथियों को भी अपने साथ सड़क के एक नुक्कड़ पर रोक लिया—

"भन्ते! क्या देख रहे हैं?"

"रुको।"

मैं वह तस्वीर देखने में तन्मय था।

बारह-चौदह वर्ष का एक लड़का। टाँग पर नंगा ज़ख्म। पास में पत्ते पर गीला सत्तू। मक्खियाँ ज़ख्म और उस सत्तू पर समान रूप से भिनभिना रही थीं। लड़के का एक हाथ और कोई काम न कर सकता था—ज़ख्म और सत्तू को मक्खियों से बचाना अनिवार्य था।

पास ही फुदक रहे थे चार-पाँच कौवे। वे उस लड़के के ज़ख्म की 'लाली' पर अधिक मुग्ध थे अथवा उसके सत्तू के 'पीलेपन' पर, यह तय कर सकना आसान न था। लड़का केवल सत्तू खाना चाहता था और कौवे शायद ज़ख्म तथा सत्तू दोनों।

मैंने देखा कि यह लड़का सत्तू की एक गोली बना कर कुछ दूर पर फेंक दे रहा है, कौवे उछल कर उसकी ओर जाते हैं, तब तक फुर्ती से वह एक गोली बना कर अपने मुँह में डाल ले रहा है। उसका कुछ सत्तू मक्खियों के लिए था, कुछ कौवों के लिए और कुछ अपने लिए।

मक्खियों और कौवों से ज़ख्म की रक्षा करते हुए थोड़ा सत्तू जैसे-तैसे पेट में ढकेलने का उसके पास और कोई उपाय न था। काले कौवों को सत्तू की 'रिश्वत' देना उसके लिए उतना ही अनिवार्य हो गया था, जैसा आज के कुछ सरकारी अफ़सरों को।

मैं खड़ा-खड़ा उस तस्वीर को देखता रहा। सोचता रहा कि यह आख़िर किसकी तस्वीर है।

कलकत्ता का कालेज स्क्वायर शिक्षा का केन्द्र है। वहीं पर मुझे यह तस्वीर पड़ी मिली—प्रसिद्ध मेडिकल कालेज के हास्पिटल के नुक्कड़ पर।

मैं उस तस्वीर को झाड़-पोंछ कर साथ न ला सका, यही इन पंक्तियों के लेखक का 'दर्द' है; और बिना लाये भी वह साथ-साथ चली ही आयी, यही उसकी बड़ी मुसीबत है।

अब मेरी आँखों के सामने न वह लड़का है, न उसका ज़ख्म है, न उस पर बैठी हुई मक्खियाँ हैं, न उसका गीला सत्तू है और न उसपर झपटने वाले कौवे हैं, किंतु वह समाज है, जिसका ये सभी अपनी-अपनी जगह पर प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

संगठन की मर्यादा

जिस वस्तु के विषय में मैं लिखने जा रहा हूँ उसे संगठन कहना ठीक होगा अथवा संघ+टन ? शब्द दोनों ही ठीक प्रतीत होते हैं। अक्षर विन्यास पृथक होने पर भी एक बड़ी हद तक अर्थ-साम्य है ही।

श्री विनोबा का एक पत्र इधर अख़बारों में छपा है। उसे यहाँ दोहरा देना अनुपयोगी न होगा।

"आर्यसमाज के संगठन में या दूसरे भी किसी संगठन में दोष देखना या दिखाना मेरा काम नहीं है। मैं तो 'संगठन' में ही दोष देखता हूँ ? संगठन से अभिमान बढ़ता है, सहिष्णुता कम होती है और किसी ग्रन्थ या किसी व्यक्ति से बँधे रहने की वृत्ति होती है। आर्यसमाज में ऐसा हुआ है या नहीं, यह आपको देखना चाहिए।

"पन्थ की व्याख्या आप पूछते हैं। व्याख्याएँ तो कई हो सकती हैं। किसी ग्रन्थ को अनादि समझकर उसपर निर्भर रहना पन्थ के अनेक लक्षणों में से एक कहा जा सकता है। अच्छे ग्रन्थों की मदद लेना ग़लत नहीं है, लेकिन शब्द-प्रमाण बनना, पन्थ-लक्षण है—जैसे सनातन-धर्मी, आर्यसमाजी, क़ुरानी-पुरानी आदि।

"हम अगर सावधान न रहे तो गांधी जी के अनुयाइयों का भी देखते-देखते एक पन्थ बन सकता है। हम सबको उस दृष्टि से सावधान रहना है।"

मेरी विनम्र सम्मति में श्री विनोबा का यह वाक्य कि "मैं तो संगठन में ही दोष देखता हूँ," बड़े महत्व का है। इस तथ्य को एक पाश्चात्य-कथा में बड़े ही सौन्दर्य के साथ व्यक्त किया गया है। कथा बहुत ही छोटी है—

दो मित्र थे। दोनों में से एक की दोस्ती थी शैतान से। दूसरे को कहीं से सत्य का टुकड़ा मिल गया। पहले ने अपने शैतान मित्र से कहा, "लो! मेरे मित्र को सत्य का टुकड़ा मिल गया है। अब तुम्हारा क्या हाल होगा?"

शैतान को स्वाभाविक तौर पर सत्य से डरना चाहिए किन्तु उसका उत्तर था, "मुझे इसकी तनिक चिन्ता नहीं। मैं तुम्हारे मित्र को सत्य के 'संगठन' में लगा दूँगा।"

कहानी का भावार्थ स्पष्ट है। जब कोई सत्य के 'संगठन' में लग जाता है तो फिर एक प्रकार से वह शैतान का ही काम करना आरम्भ कर देता है।

बौद्ध धर्म के तीन रत्नों में एक रत्न है 'संघ'। 'बुद्ध' और 'धर्म' के साथ-साथ 'संघ' की भी शरण ग्रहण करनी पड़ती है।

किन्तु एक जगह लिखा है कि आरम्भिक वर्षों में ही एक बार भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा, "भिक्षुओ, 'संघ' इस योग्य नहीं रहा कि मैं उपोसथ कर्म में शामिल हुआ करूँ। अब से तुम लोग मेरे बिना ही उपोसथ कर्म कर लिया करो।"

महात्मा गांधी का कांग्रेस की मेम्बरी तक से त्यागपत्र दे देना उनकी ठीक वैसी ही प्रवृति अथवा अनुभूति का द्योतक था।

स्वयं श्री विनोबा किसी संस्था के सदस्य नहीं ही बनते। गोरखपुर के प्राकृतिक चिकित्सा संघ का सदस्य बनने की प्रार्थना करने पर उन्होंने जो उत्तर दिया था, वह उनके अधिकांश उत्तरों की तरह 'मौलिक' तो था ही,

किन्तु उसका भी सीधा-सादा अभिप्राय इतना ही था कि वे किसी भी संस्था के सदस्य नहीं होना चाहते।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि प्रायः हर व्याख्याता अपने व्याख्यान के आदि-मध्य-अन्त में कहीं-न-कहीं यह सूत्र दोहरा देता है कि कलियुग में सारी शक्ति संगठन में ही है। और भारत की न कोई जाति अथवा उपजाति बची है जिसका संगठन नहीं; न कोई पेशा बचा है जिसका संगठन नहीं; न कोई धर्म बचा है जिसका संगठन नहीं; न कोई स्वार्थ बचा है जिसका संगठन नहीं; यहाँ तक कि शोषितों के तो संगठन हैं ही, शोषकों के भी हैं और कदाचित् अधिक मज़बूत!

इस संगठन करने-कराने का हाल यह है कि न जाने कितने लोगों के लिए यह संगठन करना-कराना ही एक अच्छा-खासा धन्धा है। वे आज इस संगठन में लगे हैं तो कल दूसरे में। उन्हें संगठन से मतलब है, संगठन किसी का भी हो, कैसा भी हो। उनके लिए हर संगठन में से कुछ-न-कुछ गुंजाइश निकल ही आती है।

तो प्रश्न उठता है कि 'संगठन' का जीवन में क्या स्थान है? संगठन अत्यन्त अवांछनीय वस्तु है, अथवा वांछनीय? क्या संगठन के बिना जीवन और विशेष रूप से सार्वजनिक जीवन असम्भव है अथवा सम्भव? यदि असम्भव है तो उसकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार क्यों नहीं कर ली जाती? यदि सम्भव है तो वह कैसे और किस सीमा तक?

जिस समय इन पंक्तियों के लेखक को श्री विनोबा के पैदल यात्रा करने के संकल्प की जानकारी मिली, उससे 'विनोबा का वाहन परित्याग' शीर्षक लेख लिखे बिना नहीं रहा गया। वर्धा से जिस प्रातःकाल और जिस प्रथम दिन वह हैदराबाद की ओर चल पड़े थे उस समय वर्धा में अन्य अनेक लोगों के साथ लेखक भी वहाँ उपस्थित था। लेखक का अनुमान था कि बिना किसी को पूर्व सूचना दिये अपने एकाध साथी के साथ विनोबा जी वर्धा से निकल पड़ेंगे, यही उसके लिए उनकी यात्रा का विशेष आकर्षण था। किन्तु वहाँ पहुँच कर देखा कि उनकी पैदल यात्रा के कार्यक्रम की टाइप की

हुई कापियाँ व्यवस्थित ढंग से जहाँ-तहाँ पहुँचायी जा रही हैं। मेरी मान्यता है कि जब किसी के स्थान विशेष पर पहुँचने से पहले उसके वहाँ दिन-विशेष पर पहुँचने की सूचना चली गयी, तो फिर 'यात्रा' और 'संगठन' का संगठन हो ही गया।

मैं संगठन को बुरा ही मानता होऊँ, ऐसी बात नहीं। किन्तु यह अवश्य मानता हूँ कि यह भी 'संगठन' ही है। यदि 'संगठन' मात्र को बुरा माना जाय तो फिर 'संगठन' का इतना अंश भी अग्राह्य ही है। कोई सार्वजनिक सभा, जिसकी पूर्व सूचना निकलती है, बिना संगठन की मदद के हो ही नहीं सकती।

मेरी मान्यता है कि सार्वजनिक सभाओं में बोलना भी साधक की दृष्टि से वाणी के संयम की अनेक मर्यादाओं को अनायास तोड़-फोड़ डालता है। उससे जो लाभ होता है, उसका श्रेय 'संगठन' को ही दिया जाना चाहिए और उससे साधक की जो हानि होती है, वह 'संगठन' से ही होनेवाली हानि है।

तिथि विशेष से, स्थान विशेष से, पुस्तक विशेष से, व्यक्ति विशेष से, किसी वस्तु विशेष से चिपकने का नाम 'संगठन' है। आरम्भ सहारा लेने से ही होता है, अन्त में प्रायः चिपकना ही होता है। सभी 'धर्म' जब तक जीवित रहते हैं तब तक आन्दोलन कहलाते हैं और सभी आन्दोलन जब मर जाते हैं, तब 'धर्म' बन जाते हैं।

इसी पृष्ठभूमि में हमें भगवान बुद्ध का यह कथन अत्यन्त सार्थक मालूम होता है कि "भिक्षुओ मैं तो नौका के समान धर्म का उपदेश देता हूँ, जो पार होने के लिए है, पकड़ कर बैठने के लिए नहीं।" फिर यह भी कहा है, "जिन बातों को 'अधर्म' समझते हो, उन्हें तो छोड़ ही देना है; जिन्हें 'धर्म' समझते हो, उन्हें भी छोड़ देना चाहिए।"

तो संगठन का क्या किया जाय? उसे जीवन में स्थान दिया जाय अथवा नहीं?

यह प्रश्न हम पूछ ही नहीं सकते, क्योंकि सामाजिक जीवन की ही नहीं, हमारे व्यक्तिगत जीवन तक की 'संगठन' एक अनिवार्य आवश्यकता है। जब पाँचों इन्द्रियों और छठे मन के 'संगठन' का नाम ही 'जीवन' है

तो फिर 'संगठन' की उपेक्षा हो ही कैसे सकती है।

तो संगठन के प्रति क्या दृष्टिकोण रखा जाय? वही, जो हम अपने जूतों के प्रति अथवा अपने कपड़ों के प्रति रखते हैं। जूते और कपड़े ठीक हों, ठीक जचें तो उन्हें पहने फिरो, ठीक न हों, ठीक न जचें तो उतार फेंको।

मरे हुए व्यक्ति को हम अपने घर में एक क्षण भी नहीं रखना चाहते, न जाने मरे हुए आन्दोलनों से हम क्यों चिपटे रहते हैं?

मृत-आन्दोलनों अथवा धर्मों की ठेकेदारी का ही नाम 'संस्था' है। जो आन्दोलन जितनी ही अधिक मात्रा में प्राणविहीन बनता जाता है, उस आन्दोलन में उतनी ही अधिक मात्रा में 'संस्थापन' बढ़ता जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था कि मैं क्रिश्चियेनिटी का विरोधी नहीं हूँ, मैं चर्चियेनिटी का विरोधी हूँ। उनका आशय स्पष्ट रूप से इस संस्थापन के ही विरोध से था।

मरे हुए व्यक्ति को हम थोड़ी देर सहन कर भी लें, मरी हुई संस्था को एक क्षण भी सहन नहीं करना चाहिए।

व्यक्ति जीवित है अथवा मर गया, इसकी जाँच कभी-कभी बड़े-बड़े डाक्टरों की परीक्षा ले लेती है।

मृत संस्था को भी समय रहते पहचान लेना बड़ा विशिष्ट कार्य है।

गांधी जी ने न जाने कितने संगठनों को जन्म दिया और न जाने कितनों को दफ़नाया। उनकी अन्तिम वसीयत काँग्रेस के तत्कालीन रूप तक को दफ़ना देने की थी। वह कुछ काँग्रेस-विरोध के कारण नहीं, कुछ संगठन विरोध के कारण भी नहीं, किन्तु सभी संगठनों की मर्यादाओं से परिचित रहने के कारण।

'संगटन' मानवता का एक उपयोगी आविष्कार है। वैसा ही जैसे मूर्तिपूजा।

'संगठन' सड़ने न पाये तो उससे कोई खतरा नहीं, मूर्ति जड़ न बनने पाये तो उससे कोई हानि नहीं।

यही संगठन की मर्यादा है।

जापान का सामाजिक जीवन

किसी भी व्यक्ति के परिचय के लिए उस के साथ दीर्घकालीन सहवास आवश्यक है और किसी भी देश के परिचय के लिए वहाँ दीर्घकालीन निवास।

जापान में अपना न दीर्घकालीन निवास ही रहा और न कुछ कहने-सुनने लायक़ सामाजिक जीवन ही। तो भी दो-चार बातें सुनिए।

जापान में बच्चे का नामकरण उसके पैदा होने के सातवें दिन किया जाता है। जापानियों की धारणा है कि जैसा नाम वैसा भविष्य। इसलिए आजकल विशेषज्ञ लोग बच्चों के नाम ख़ूब अच्छे-अच्छे और ख़ूब चुन-चुन कर रखते हैं। कभी-कभी तो वे इतने दुरूह हो जाते हैं कि उनका उच्चारण और लेखन स्वयं बच्चों के लिए मुसीबत हो उठता है।

घर में बच्चा न हो तो 'गोद' ले लिया जाता है। कभी-कभी घर में बच्चा रहने पर भी बच्चा गोद लिया जाता है। पिता चाहता है कि उसकी बिटिया घर में ही रहे। वह किसी बच्चे को गोद ले कर उसी से उसकी शादी कर देता है।

जीवन की परिभाषा—आजकल लोग कुर्सी और मेज़ को सामाजिक मूर्ति मानते हैं। जापान में सामाजिक जीवन की देवी है ततमी अर्थात् चटाई।

ततभी का जापानियों के घरेलू जीवन पर बड़ा ही प्रभाव है। उनके उठने-बैठने से लेकर उनके घर की सजावट तक। लोग ततभी पर बैठते हैं तो हिन्दुओं की तरह पालथी मार कर नहीं, बल्कि कुछ-कुछ वैसे ही जैसे मुसलमान भाई नमाज़ पढ़ते समय। नयी ततभी बड़ी मनोरम, सुन्दर और भीनी-भीनी .खुशबू देती है। जापानियों की कहावत भी है कि पत्नी और ततभी दोनों नयी ही अच्छी लगती हैं।

जापान में बच्चे के जन्म के एक सौ बीस दिन बाद उस के मुँह में कुछ खाद्य डाला जाता है। इसे आप जापानी बच्चों का अन्नप्राशन संस्कार कह सकते हैं। जापानियों का विश्वास है कि इस संस्कार के प्रभाव से बच्चा स्वस्थ रहेगा, मोटा ताज़ा रहेगा और उसे कभी भी भोजन का अभाव न होगा।

जापानी बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं तब चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं—इत्तेयैरिमसू अर्थात् मैं जा रहा हूँ। वापस लौटने पर तैदम्मा पैयि अर्थात् अभी आया हूँ।

बच्चों की बात चल रही है, लगे हाथ उनके सबसे बड़े आकर्षण की बात भी कह दूँ। वह है कमिशीबाई। कमिशीबाई किसी स्त्री का नाम नहीं है। कमिशीबाई आया नहीं कि बच्चे अपने-अपने घरों से निकल कर चौरस्ते पर इकट्ठे हुए नहीं। कमिशीबाई अपनी साइकिल पर एक लकड़ी का चौखटा लगा लेता है। उसके पास एक बक्स भी रहता है जिसमें खट्टी-मीठी मिठाई रहती है। मिठाई ख़रीदने वाले बच्चे तमाशा देखने के समय प्रथम पंक्ति में खड़े रहने के अधिकारी होते हैं। कमिशीबाई एक के बाद दूसरी तस्वीर उस चौखटे में लगाता जाता है और दूसरी ओर से निकालता जाता है। यह तस्वीरें जो कहानी कहती हैं, वही कहानी वह कमिशीबाई भी सुनाता जाता है। इसे बच्चों का चलता-फिरता बोलता सिनेमा ही समझिए। बच्चों को अज़हद पसन्द। माता-पिता को प्रायः उतना ही नापसन्द। कारण स्पष्ट है। कमिशीबाई के आने पर बच्चे माता-पिता को पैसों के लिए जो हैरान करते हैं!

पुलिस तक इन कमिशीबाईयों पर नज़र रखती है, न जाने कैसी क्या कहानी सुना जायें। अद्भुत प्रचारक होते हैं ये। मिठाई और शिक्षण साथ-साथ!

प्रत्येक जापानी घर में देव-स्थान जैसा एक स्थान रहता है जो धार्मिक न होने पर भी आइत होता है। अतिथियों में प्रधान अतिथि को सदैव इसी आइत स्थान के ठीक सामने उसी की ओर पीठ करके बैठना होता है।

दो आदमी खड़े हों तो जो दर्जे में नीचा हो, उसे बायीं ओर खड़ा होना होता है। जापान में दायीं ओर ही सम्मान का स्थान है। जब पुरुष और स्त्री साथ-साथ बैठते हैं तो स्त्री को सदैव पति के बायीं ओर बैठना होता है। घर के मालिक को आदर का पहला स्थान मिलना ही चाहिए।

उठने-बैठने की यह व्यवस्था पर्याप्त प्राचीन है। राजा हमेशा दक्षिण की ओर मुँह करके बैठता है, क्योंकि दक्षिण दिशा सम्माननीय है!

बहुत देशों और वहाँ के लोगों के बारे में कहा जाता है कि जैसा देश वैसे लोग। लेकिन यह कहावत जापानियों पर सब से ज़्यादा घटित होती है। लगता है कि वे अपने देश के लिए ही बने हैं और उनका देश भी ठीक उन्हीं के लिए। जापान में एक फ़्यूजी पर्वत को छोड़ शायद सभी चीज़ें छोटे आकार की हैं। स्वयं जापानी तो हैं ही।

विदेशी यात्री को जापान में जो चीज़ सबसे पहले खटकती है, वह है जापानियों की रुचि। रेल में सोने की जगह इतनी छोटी कि कोई ज़रा भी लम्बा आदमी पैर फैला कर न सो सके। हाथ-मुँह धोने का बरतन इतने नीचे कि हर किसी को दुहरा होना ही पड़े।

जापानी घरों में मेज़, कुर्सी तो होती ही नहीं। खाने की चौकी चार इंच ऊँची। आइत स्थान में रखा हुआ बौना पेड़ नीचे से ऊपर तक ज़्यादा से ज़्यादा अठारह इंच ऊँचा।

घर में जिस पिछवाड़े को हम निकम्मा समझकर छोड़ देंगे उसी छोटी-सी-छोटी जगह में जापानी एक छोटा-सा बाग़ लगा लेंगे जिसमें तालाब होंगे, नदियाँ होंगी, पुल होंगे, लैम्प लगे होंगे और बौने पेड़ों का एक जंगल

होगा।

आदमी को लगने लगता है कि प्रसिद्ध अँग्रेज़ी कथा 'गुलिवर्ज़ वाएज' का गुलिवर लिलिपुत में पहुँच गया।

सातवीं शताब्दी के मध्य से जापान निहोन कहलाता है जिसका मतलब है सूर्योदय का देश। कौनसा देश सूर्योदय का देश नहीं है? जो देश हमसे कुछ पश्चिम में हैं उनके लिए भारत भी सूर्योदय का ही देश है।

हाँ तो इस सूर्योदय के देश में आदमी के लिए जो सबसे अधिक लज्जा की बात है वह है म्युसश्योनो रह जाना, जिस का मतलब होता है, रजिस्टर्ड न होना। इस तरह का व्यक्ति न किसी स्कूल में प्रवेश पा सकता है और न उसे कोई नौकरी ही मिल सकती है।

जापान में रजिस्ट्रेशन की पद्धति अत्यन्त विकसित है। सभी जापानियों को शहर, नगर अथवा गाँव के आफ़िस में रजिस्टर्ड होना ही होता है। जब तक रजिस्ट्री न हो तब तक न किसी के जन्म का कोई क़ानूनी मूल्य है, न शादी का, न तलाक़ का, न मृत्यु का और न स्थान परिवर्तन का। यदि किसी को अदालत में कोई सज़ा मिलती है, तो वह भी रजिस्टर में दर्ज होती है।

पहले प्रत्येक सामरी अथवा सामरिक जाति का मुखिया किसी न किसी बौद्ध सम्प्रदाय में रजिस्टर्ड रहता था और प्रत्येक परिवार किसी न किसी बौद्ध मन्दिर में। जो परिवार रजिस्टर्ड रहे हैं, उनके सदस्यों का यह अधिकार रहा है कि उन मन्दिरों के पुजारी आ कर उनका श्राद्ध करायें और उनके शव को मन्दिर की श्मशान भूमि में स्थान मिले।

रजिस्टर्ड सदस्यों से भी यह आशा रही है कि वे भी मन्दिर के खर्च में सहायक सिद्ध हों।

किसी के विवाह संस्कार से तो बौद्ध पुजारियों को प्रायः कुछ लेना-देना नहीं रहा। इधर वे भी मन्दिरों में होने लगे हैं। हाँ, किसी के घर में शोक हो जाय तो मृत व्यक्ति के दाह-संस्कार के समय सूत्रपाठ किया जाता है।

जापान में बौद्धों का, जो जापान की जन संख्या के ७० प्रतिशत कहे जाते हैं, अग्नि-संस्कार ही होता है। उनकी भस्म का कुछ हिस्सा दाह-क्रिया की जगह पर ही रहता है, लेकिन कुछ हिस्सा मन्दिर में भी लाकर रख दिया जाता है।

प्रति वर्ष १५ जुलाई को जापान भर में मृत व्यक्तियों का श्राद्ध मनाया जाता है। मृत-पूर्वजों, सम्बन्धियों, मित्रों और विशेष रूप से पहले एक वर्ष में ही जो अपने सम्बन्धियों को छोड़ कर चले गये हैं, ऐसे लोगों के लिए घरों तथा मन्दिरों में—दोनों जगह सूत्रपाठ किये जाते हैं।

पूर्वजों को अर्पित किये गये फल-फूल दूसरे दिन किसी समीप की नदी अथवा समुद्र की भेंट चढ़ा दिये जाते हैं।

परस्पर एक दूसरे की सहायता के लिए जापान में एक प्रथा प्रचलित है जो म्युजिन कहलाती है। मंडली के प्रत्येक सभासद् का कर्तव्य है कि हर महीने मंडली के सामूहिक कोष में एक निश्चित रक़म डाले। यह मियाद दस महीने से तीस महीने तक की हो सकती है। जिस समय सभी सदस्य अपना-अपना हिस्सा डालने के लिए एक जगह एकत्र होते हैं, उसी समय पर्ची भी डाली जाती है। जिस भाग्यवान् के नाम की पर्ची निकल आती है उसी को वह सारी इकट्ठी रक़म एक साथ मिल जाती है। यदि किसी को अधिक आवश्यकता हुई तो वह भाग्यवान सदस्य को कुछ देकर उससे वह अधिकार ख़रीद लेता है। बारी-बारी से सभी सदस्यों को बराबर रक़म मिल जाने के बाद यह क्रम फिर चालू कर दिया जाता है। यह आपसी सहयोग-क्रम अनन्त काल तक चालू रह सकता है।

जापानियों में आपस में भेंट का बड़ा ही रिवाज है। भेंट लेने-देने के मामले में शायद ही कोई उनका मुक़ाबला कर सकता है। शादी-विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर तो सभी देशवासी प्रायः एक दूसरे को भेंट देते ही हैं, परन्तु जापानी तो ऐसे अवसरों पर भी भेंट देते हैं, जैसे नये मकान के बनने पर, नया पता बदलने पर, नयी नौकरी लगने पर! काम से तो नहीं, किन्तु यदि यूँ ही किसी के यहाँ जाना हो तो ख़ाली हाथ जाना न

होगा और उसका भी धर्म है कि ख़ाली हाथ न लौटने दे।

अध्यापक, गुरु और वैद्य—इन तीनों पर यह पाबन्दी लागू नहीं। वे बिना बदले में कुछ भी दिये कोई भी भेंट स्वीकार कर ही सकते हैं।

कुछ न कुछ भेंट देते रहना जापानियों की प्रकृति का एक अंग बन गया है। अपरिचित लोगों तक को कभी-कभी काफ़ी मूल्यवान चीज़ें भेंट में दे दी जाती हैं। दाताओं का आनन्दित होना ही एकमात्र कारण समझ में आता है। जापान जाते समय मेरे अपने पास कुल ६० पौण्ड सामान था। लौटा तो १५० पौण्ड हो गया! जापानी मित्रों की इसी प्रवृत्ति की कृपा से।

जापानियों में एक प्रथा है जो एक दृष्टि से अच्छी भी लगती है। जब कोई परिवार देखता है कि वह कर्ज़े के भार से इतना ऊब गया कि अब उसके चुका सकने की कोई आशा नहीं अथवा परिवार के सदस्य से कोई ऐसी ग़लती हो गयी जिससे परिवार की इज़्ज़त में स्थायी रूप से बट्टा लग सकता है, तो उस परिवार के सदस्य रातों-रात अपना सब सामान समेटेंगे और किसी को भी बिना कुछ पता लगने दिये किसी अज्ञात स्थान के लिए निकल पड़ेंगे। यह प्रथा योनिगे कहलाती है, जिसका अर्थ है रात्रि निष्क्रमण।

निराश प्रेम युगलों की आत्म-हत्याएँ अतीत की मनोरम कथाएँ बन गयी हैं। अब कोई 'हर-किरि', पेट फाड़ कर आत्म-हत्या भी नहीं करता। किसी समय ये दोनों बातें भी जापानी जीवन की ख़ासियतें थीं।

एक ख़ास पारिवारिक और सामाजिक संस्था है जो कदाचित् जापान में ही है। यह ठीक-ठीक भारतीय आश्रम व्यवस्था का वानप्रस्थ आश्रम भी नहीं है। कोई भी आदमी स्वेच्छा से परिवार के मुखियापन और समस्त कार्यभार से मुक्त हो जाता है। वह और उसकी भार्या दोनों इंक्यो कहलाते हैं।

जापानियों का सामान्य पेय है चाय, जिसमें न चीनी और न तिब्बतियों की तरह नमक ही। इसके बाद दूसरे नम्बर पर है साके, चावल की सुरा।

जापान में पीकर ग़र्क हो जाने में कोई बुराई नहीं मानी जाती। यहाँ तक कि यदि आप किसी ख़ास अवसर पर किसी के मेहमान हैं और पीकर

ग़र्क़ नहीं होते तो मेज़बान को अच्छा नहीं लगता।

एक ओर तो जापानियों की चाय बिना चीनी के होती है और वे विशेष मिठाई प्रिय भी नहीं होते। तो भी आश्चर्य है कि उनकी काफ़ी सब्ज़ियाँ क्यों चीनी में पगी होती हैं। प्याज़, चीनी में पगा हुआ, यह चीज़ जापान में ही खाने को मिलेगी।

जापानियों का मानस अनेक सुन्दर सुकोमल कथाओं के झीने-झीने तारों से बुना हुआ है। एक लघु कथा इस प्रकार है—

एक आदमी था, जिसके दो ही काम थे—या तो माँ की सेवा करना या बाग़ के फूलों की। समय पाकर उसकी माता का देहान्त हो गया। उसका दिल भारी हो गया। वह बाग़ में घूम रहा था। उसने देखा, बाग़ के फूल, उनकी भी पंखड़ियाँ बिखर-बिखर कर ज़मीन पर आ रही हैं। वह साधू हो गया......और भी एकाकी। एक रात उसकी कुटी के दरवाज़े पर टक-टक हुई। दरवाज़ा खोला। एक स्त्री खड़ी थी। बड़े संकोच और भय के साथ उसने उसे अन्दर आने दिया।

बुढ़िया एक भिक्षुणी थी, सफ़ेद वस्त्र पहने। उसके बाद तरुणियाँ आयीं। एक से एक बढ़ कर सुन्दर लिबास पहने।

साधक ने सभी को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। वे प्रभावित हुईं। उनकी आँखें सजल हो आयीं। वे जाने को हुईं।

साधक ने कहा, "अपना परिचय तो देती जाओ।"

"हम उन्हीं फूलों की पंखुड़ियाँ हैं, जिन्हें तुम इतने दिन अपने बाग़ में प्रेमपूर्वक सींचते रहे।"

मैं जापान में महीना भर रहा। दो-तीन चीज़ें नहीं देखीं—रोते हुए बच्चे नहीं देखे, झगड़ती हुई स्त्रियाँ नहीं देखीं, माँस-मछली की दुकानों पर भी मक्खियाँ नहीं देखीं।

हिमालय-पुत्र रोएरिक

बहुत दिन हुए किसी ने एक समय भगवान् की कुछ भौगोलिक भूलों का उल्लेख किया था। लेखक का कहना था कि स्वर्गीय सरोजनी नायडू को विदेश में पैदा होना चाहिए था और स्वर्गीय सी० एफ़० एण्ड्रूज़ को भारत में।

आचार्यवर निकोलस रोएरिक के बारे में सोचने पर मुझे लगता है कि उनका जन्म भी ठीक नहीं हुआ अर्थात जहाँ होना चाहिए था वहाँ न होकर रूस में हुआ।

उनका जन्म सेंट पीटर्सबर्ग में १८७४ में हुआ। उनकी आरम्भिक तथा आगे की भी पढ़ाई शहर में ही हुई। उनकी पढ़ाई की यह विशेषता थी कि वह एक साथ ही एक ओर कला का अध्ययन कर रहे थे, दूसरी ओर इतिहास तथा भाषाशास्त्र का, तीसरी ओर क़ानून का और चौथी ओर पुरातत्व का। बाद में वे अध्ययनार्थ देश से बाहर भी गये। यह चतुर्मुखी शिक्षा ही थी, जिसने आगे चलकर उनके व्यापक संकल्पों और असीम ज्ञान की नींव का काम किया।

रोएरिक चित्रकार के रूप में जगत्-प्रसिद्ध हो गये, लेकिन कदाचित् अधिक

लोग यह बात नहीं जानते कि चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध होने से पहले वे अपने देश में एक असाधारण पुरातत्त्वज्ञ और पंडित के रूप में विशेष आदृत थे। उन्होंने अपनी तूलिका से जो भी चित्र बनाये उनकी पृष्ठ-भूमि में उनके अचेतन मन के ये ऐतिहासिक तथा पुरातत्व सम्बन्धी संस्कार स्पष्ट रूप से लक्षित हैं।

रोएरिक की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उनकी सर्वव्यापक भाषा को अपढ़ भी पढ़ सकते थे। चित्रकार की हैसियत से उन्होंने, थोड़े नहीं, सात हज़ार से भी अधिक चित्र बनाये, जिनके विषय ऐतिहासिक थे, जिनमें से बहुत-सी ऊँचे दर्जे की अलंकार-प्रधान कृतियाँ थीं और जिनमें से अनेक मनुष्य की ऊँची से ऊँची भीतरी उड़ान को कैन्वास पर अंकित करने के प्रयास थे। उनके जीवन के पिछले युग में तो हिमालय ने ही उन्हें आत्मविभोर कर लिया था। उनसे बढ़कर संसार को हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों, उसकी स्फटिक-सी स्वच्छता और उसके भीतरी गूढ़ रहस्यों का परिचय देनेवाला कोई नहीं हुआ।

संसार का कौन-सा बड़ा नगर है, जहाँ रोएरिक के चित्र किसी न किसी चित्र-संग्रहालय में सत्कृत नहीं हैं! यहाँ भारत के अनेक राज्यों में भी वे आदृत हैं। ट्रावनकोर में रोएरिक के चित्रों को रखने के लिए एक विशेष भवन ही है। इलाहाबाद और बनारस में भी उन्हें पृथक बड़े-बड़े कमरों में स्थान मिला है।

१९२९ में अमरीका की न्यूयार्क नगरी में तो पूरा २९ तल्ले का एक भवन ही चित्रकार के चित्रों को रखने के लिए बनाया गया। शायद चित्रकला के इतिहास में यही पहला अवसर है कि किसी चित्रकार के जीवनकाल में ही एक इतना विशाल भवन उसके चित्रों को सादर समर्पित कर दिया गया हो।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रोएरिक के चित्रों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। उनका कथन था—

"आपके चित्रों ने एक प्रकार से मुझे झकझोर डाला। उन्होंने मुझे इस बात का बोध कराया कि सत्य अनन्त है। जब मैंने आपके चित्रों से

प्रकट होने वाले विचारों को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न किया, मैं असफल रहा; क्योंकि शब्दों की भाषा सत्य के किसी एक ही पहलू की अभिव्यक्ति कर सकती है। जब एक प्रकार की कला किसी दूसरी प्रकार की कला को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न कर सके तो उसे असफल मानना चाहिए। आपके चित्र स्पष्ट हैं लेकिन तब भी वे शब्दों के बन्धन से परे हैं। वे स्वतन्त्र हैं क्योंकि वे महान् हैं।''

रोएरिक पुरातत्वज्ञ और महान् चित्रकार ही नहीं थे, वे कवि भी थे। कला के क्षेत्र में कहीं कोई अनुल्लंघनीय दीवारें नहीं होतीं। रवि बाबू को विश्राम लेना होता था तो वे चित्र बनाते थे और रोएरिक अपने विश्राम के समय में गान गा उठते थे। उनकी कविताओं के पढ़ने से कहीं-कहीं गीतांजलि पाठ का रस मिलता है।

एक कविता है—

हे देव-दूत, हे देव-दूत!
तुम खड़े मुस्करा रहे हो,
और यह नहीं जानते कि तुम अपने साथ क्या ले आये हो?
तुम अपने साथ लाये हो चिकित्सा का वरदान।
मेरा प्रत्येक अश्रु संसार के घावों को अच्छा कर देगा,
किन्तु मैं इतने अश्रु-बिन्दु कहाँ से लाऊँगा?
और सर्व-प्रथम मैं संसार के किन घावों पर उनका लेप करूँगा?
हे देव-दूत, हे देव-दूत!
तुम खड़े हो और मुस्करा रहे हो।
क्या तुम्हें अपनी मुस्कराहट से संसार की चिकित्सा करने का अधिकार नहीं है?

रोएरिक ऊँचे दर्जे के निबन्धकार भी थे। प्रत्येक रसात्मक रचना 'काव्य' है। काव्य छन्दों से अलंकृत भले ही होता हो, किन्तु वह उनसे बँधता नहीं। रोएरिक का गद्य भी उनके काव्य के समान सरस है।

उनका लेख है—

"बड़ी-बड़ी सभ्यताओं के पाषाण संस्कृति के लिए क़िलेबन्दी का काम देते हैं, लेकिन संस्कृति के शिखर के प्रेम-पूर्ण, निर्भय तथा वीरता-पूर्ण हृदय का आलोक बरसता है।

"प्रेम इन सुन्दर द्वारों को उन्मुक्त करता है। प्रत्येक सच्ची चाबी की तरह इस प्रेम के लिए यह अनिवार्य है कि यह सच्चा हो, आत्म-बलिदान की भावना से परिपूर्ण हो, साहसमय हो और उग्र हो। संस्कृति के स्रोत अपने मूल में अत्यन्त उग्र हैं, पर वे हृदय की गहराई से जन्म लेते हैं। जहाँ एक बार संस्कृति का जन्म हुआ, वहाँ फिर इसका विनाश नहीं हो सकता। मानव सभ्यता की हत्या कर सकता है, किन्तु संस्कृति—मानव की यथार्थ आध्यात्मिक निधि—अविनश्वर है।"

रोएरिक ने ८७ बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे और उनके अतिरिक्त संसार के भिन्न-भिन्न मासिक पत्रों में अनगिनत लेख लिखे होंगे। वे स्वयं एक से अधिक भाषाओं में लिखते थे और उनके ग्रन्थ तथा लेख प्रायः सभी यूरोपीय तथा एशियाई प्रधान-भाषाओं में अनूदित होते थे। उन्होंने कला पर लिखा, पुरातत्त्व पर लिखा, यात्रा-वृत्तान्त लिखे, दर्शनशास्त्र पर लिखा; और भी विभिन्न विषयों पर।

१९३६ में रवि बाबू ने शान्ति-निकेतन से उन्हें लिखा था—

"आज शांति की समस्या ससार की सबसे बड़ी चिंता है। बर्बरता की जो बाढ़ पश्चिमी-देशों को एक के बाद दूसरे को लिये डूबती चली जा रही है, उसके सम्मुख हमारे प्रयत्न बड़े ही नगण्य और व्यर्थ से प्रतीत होते हैं। नग्न सैनिकता का चारों ओर होने वाला प्रदर्शन मानवता के लिए इतना बड़ा अपशकुन है कि मैं तो एक प्रकार से मानव-सभ्यता के लिए निराश ही हो चला हूँ, लेकिन तो भी हमें अपने प्रयत्न तो जारी रखने ही हैं, अन्यथा वह दुर्दिन और समीप आ जायगा।"

लेकिन निकोलस रोएरिक थे कि उन्होंने कभी भी निराशा के स्वर वाले तारों को झंकृत होने नहीं दिया।

वे 'हिमालय' और 'भारत' के कितने बड़े भक्त थे, यह अभिव्यक्त करना सहज नहीं। उन्होंने लिखा—

"हिमालय के हिम में जो प्रकाश है, जो आध्यात्मिक शान्ति है, वह अन्यत्र कहीं भी सुलभ नहीं।......मुझे प्रसन्नता है कि मैं संसार भर में हिमालय की शान का प्रचार कर सका हूँ......हिमालय, भारत का पवित्र रत्न!"

और भारत के गुण-गान में तो वे किसी अनिर्वचनीय भाव-लोक में ही पहुँच गये प्रतीत होते हैं—

"ओ भारत! ओ सौन्दर्य ही सौन्दर्य की मूर्त्ति भारत! तुम्हारे प्राचीन नगरों में, मन्दिरों में, वनों में, देव-वनों में, पवित्र नदियों में तथा हिमालय में जो महानता है, जो प्रेरणा है, जो उद्भाविनी भक्ति है, उस सब के लिए मेरी अभ्यर्थना स्वीकार करो।"

कोई यह न समझे कि रोएरिक स्वप्नलोक में विचरने वाले महान् कलाकार-मात्र थे। यदि उनका दिमाग़ आसमान में था तो उनके पाँव ठोस ज़मीन पर थे। वे एक-दो नहीं, संसार की ४१ बड़ी-बड़ी विद्वत् परिषदों से सम्बन्धित थे—अनेकों के सम्माननीय सदस्य और कई के पदाधिकारी।

इस दृष्टि से रोएरिक विश्व-व्यापी विश्व-विद्यालय के 'कुलपति' थे।

महान् रोएरिक की अचल श्रद्धा थी—

"कला सारी मानवता को एक बना देगी। कला एक है, अविभाज्य है। कला की अनेक शाखायें हैं, किन्तु वे सब मिलकर एक हैं। कला भावी-युग के समन्वय की अभिव्यक्ति है। कला सब के लिए है। हाँ, कोई यथार्थ कला का आनन्द लेने वाला है। 'पवित्र निर्मल श्रोत' का द्वार हर किसी के लिए खुला होना चाहिए और कला का प्रकाश अनेकों हृदयों में एक नये प्रेम का संचार कर देगा। आरम्भ में वह अनुभूति अचेतन रहेगी, किंतु अन्त में यह मानव-चेतना को निर्मल बना देगी। और कितने हृदय हैं जो यथार्थ सत्य और सौन्दर्य की खोज में तल्लीन हैं। इसलिए सत्य और सौन्दर्य उन तक पहुँचने दो। कला को जनता तक ले जाओ, क्योंकि यह उसी की

वस्तु है। न केवल हमारे अजायबघर तथा अस्पताल ही कला-पूर्ण होने चाहिए, किंतु हमारे जेलखाने भी सुन्दर हों और अलंकृत हों। तब कहीं कोई जेलखाना न रहेगा।"

रोएरिक ने अपने जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक बड़ा ठोस कार्य किया था। वह था उनकी 'शान्ति-पताका' की कल्पना और 'रोएरिक समझौता'।

जिस प्रकार रेड-क्रास आन्दोलन ने दुखियों के शरीरों की सुध ली है, उसी प्रकार रोएरिक के 'शान्ति-पताका आन्दोलन' और 'रोएरिक पैक्ट' ने संसार की सांस्कृतिक निधियों की चिंता की है। १६०४ में जब रोएरिक अपने देश के प्राचीन मठों को एक पुरातत्त्वज्ञ की दृष्टि से देखते विचर रहे थे, तभी उनके मन में बर्बरता के हाथों नष्ट-भ्रष्ट हुए भग्नावशेषों को देखकर सांस्कृतिक निधियों के संरक्षण का ख़याल पैदा हुआ।

१६२६ में जब वे मध्य-एशिया की अपनी यात्रा से वापस आये, तो उन्होंने 'रोएरिक शान्ति समझौते' के आन्दोलन की रूप रेखा तैयार की, जिसे अमरीका और यूरोप के अनेक नेताओं का समर्थन मिला।

१६४७ के १३ दिसम्बर को ब्रह्ममुहूर्त्त में इस हिमालय-पुत्र ने अपने कुल्लु-उपत्यका स्थित 'उरुषति' आश्रम में 'अनन्त-शान्ति' की निद्रा ग्रहण की।

आचार्यवर रोएरिक संसार के अनेक देशों में नाना रूपों में जीवित हैं। वे अमर हैं। उनके सुपुत्र श्री जार्ज रोएरिक और स्वेतोस्लाव रोएरिक अपने महान् पिता द्वारा आरम्भ किये गये सांकृतिक-यज्ञ की ज्वाला को समिधाओं के अभाव में बुझने नहीं देते।

उनके ये प्रयत्न अमर हों!

गांधी जी—कुछ संस्मरण

अभी २६ जनवरी को ही हमने अपने स्वतंत्रता-दिवस की, अपने सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्र राज्य के स्थापना दिवस की वर्ष-गाँठ मनायी; उस दिन की, जिस दिन भारत ने स्वतंत्र होने की दृढ़ प्रतिज्ञा की थी और जिस दिन भारत ने अपने सर्वप्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्र राज्य होने की घोषणा की।

और, फिर चार ही दिन बाद हमने अपने बापू की बरसी मनायी, उस बापू की जिसने हमसे स्वतंत्रता की शपथ लिवायी, जिसने हमें स्वतंत्रता दिलायी।

आज हम हैं, हमारी स्वतंत्रता भी है, किन्तु हमारा बापू नहीं है......

३० जनवरी की मनहूस सन्ध्या को मैं बनारस स्टेशन पर रेल से उतरा ही था कि वहीं बापू के निधन का समाचार मिला। वह समाचार था कि जंगल की आग थी—दहकती, लहकती चारों ओर बढ़ी चली जा रही थी। जो लोग इक्कों, ताँगों और रिक्शों पर बैठ चुके थे, वे सभी ताँगे और रिक्शे छोड़-छोड़ कर पैदल चलने लगे। शायद ही कभी किसी महान् राष्ट्र का बापू इस प्रकार परलोक सिधारा हो!

सामान्य लोगों का निधन होता है तो उनके सम्बन्धी ही रोते हैं।

बापू का निधन हुआ तो उनके सम्बन्धी-असम्बन्धी सभी रोये। देवदास गांधी से भी अधिक ऐसे लोग रोये, जिन्होंने कभी बापू को देखा तक नहीं था। और लोगों का निधन होता है तो उनके प्रशंसक ही रोते हैं, बापू का निधन हुआ तो उनके आलोचक ही नहीं, निन्दक भी रोये। और लोगों का निधन होता है तो उनके अपने धर्म वाले ही रोते हैं, बापू का निधन हुआ तो हिन्दू-मुसलमान सभी रोये—छाती पीट-पीट कर रोये। और लोगों का निधन होता है तो उनके देश वाले ही रोते हैं, बापू का निधन हुआ तो वे अंग्रेज भी रोये, जिनकी सरकार को बापू ने 'शैतानी सरकार' कहा था।

यह सभी क्यों रोये? और इतना अधिक क्यों रोये? क्योंकि 'बापू' मानवता के धनी थे।

हर दो हाथ, दो पैरवाले पशु को हम आदमी समझने की ग़लती करते हैं, 'मानव' मान लेते हैं। हर दो हाथ, दो पैर वाला पशु मानव नहीं होता। स्वामी रामतीर्थ ने आदमियों के चार विभाग किये हैं १. जड़-मानव २. वनस्पति-मानव ३. पशु-मानव ४. मानव मानव।

जो व्यक्ति केवल अपनी ही चिन्ता करता है, अपने से बाहर कुछ सोच ही नहीं सकता वह 'जड़-मानव' है। जो अपने साथ अपने परिवारवालों, अपने नगरवालों की भी चिन्ता करता है, वह 'वनस्पति-मानव' है। जो अपने साथ, अपने परिवार और नगर के लोगों के साथ-साथ, देश भर के लोगों की भी चिन्ता करता है, वह 'पशु मानव' है। अपने साथ, अपने परिवार और नगर के लोगों तथा अपने देश के साथ-साथ 'मानवमात्र' की ही नहीं 'प्राणीमात्र' की चिन्ता करता है, वही मानव है। मौलाना हाली का शेर है—

फ़रिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना,
मगर उसमें पड़ती है मेहनत ज़्यादा।

जो लोग बापू की राजनीति से सहमत नहीं रहे अथवा मेरी तरह जो राजनीति को विशेष समझते भी नहीं रहे, वैसे लोगों पर भी बापू की 'शालीनता', बापू की 'मानवता' जादू का असर करती थी। मेरी ही एक

दिन की आपबीती सुनिए—

६ दिसम्बर सन् '४५ को शाम की मैं बापू की व्यस्तता का ख़याल कर उनकी कुटिया के भीतर पैर रखने में हिचकिचा रहा था। आवाज़ सुनायी दी—"आइए, आइए!"

मैं भीतर चला गया।

"अब आप यहाँ रहने के लिए आये हैं। एक महीना, दो महीने, चार महीने, जितना रह सकें।"

"हाँ बापू, जितने दिन वर्धा में रहूँगा, यहीं रहने की कोशिश करूँगा।"

दो-चार और बातें करने के अनन्तर बापू बोले, "अच्छा, तो भोजन की घंटी बज गयी है। पहले जाकर भोजन कर लीजिए।"

सेवाग्राम में भोजन के समय भोजन न करने पर दूसरे दिन तक उसी प्रकार इन्तज़ार करना पड़ता था, जैसे रेलगाड़ी छूट जाने पर फिर दूसरी गाड़ी का।

"भोजन तो मैं नहीं करूँगा बापू, थोड़ा दूध पी लूँगा।"

श्री मन्नारायण जी को इशारा हो गया और मुझे उनके साथ वैसे ही जाना पड़ा जैसे किसी क़ैदी को सिपाही के साथ। यह थी प्रेम की क़ैद!

लौटा तो बापू को बुरी तरह व्यस्त पाया। एक के बाद दूसरी समस्या निबटायी जा रही थी। अपनी बात कहने का आग्रह रखने में अपना ही मन संकोच मानता था। तब तक डा० सुशीला नय्यर ने धीरे से सलाह दी, "बापू जी, अब जैसे भी हो मौन ले लें।"

"नहीं, वह तो नहीं हो सकता।"

"बापू! स्ट्रेन बढ़ जायगा।"

"जिनको समय दिया जा चुका है, उनको समय देना तो धर्म है, वह कैसे तोड़ा जा सकता है?"

दया आती थी—अभी रात दस बजे बाद तक समय बँधा हुआ है!

सैर को निकले तो श्री मन्नारायण जी ने किसी तरह हिम्मत की और 'राष्ट्रभाषा' के विषय में जो बात मैं कहना चाहता था, वह अत्यंत संक्षेप

में कह दी—अथवा उसकी भूमिका बाँध दी। मुझसे दो-एक वाक्य कहकर बोले, "अब जाना नहीं होगा, यहीं रहना, नहीं तो मैं बम्बई से लौटकर लड़ूँगा।"

"बापू आप तो ऐसे मेजबान हैं कि अतिथि को घर पर छोड़कर स्वयं चले जाते हैं।"

बड़ी जोर से खिलखिला कर बोले, "हाँ, मुझे ऐसा ही अतिथि चाहिए जो मेरी ग़ैरहाज़िरी में घर को घर ही समझे।"

तब तक बापू को फिर मौन की याद करायी गयी। मैंने कहा, "अब बापू, आप मौन रख लें।" उसके बाद किसी और ने कुछ कहना चाहा। झट मुँह पर अँगुली चली गयी। मेरे मुँह से निकला "बापू, मौन वाणी का ही है न, कुछ सुनते चलने में तो हर्ज नहीं।"

अब बड़ी फुर्ती से दोनों कानों पर दोनों हाथ की अँगुलियाँ पहुँच गयीं और मैं समझता हूँ कि गांधी जी के उस चित्र के लिए कोई कुछ भी दे देता। मेरे मानस-पटल पर तो वह अंकित हो ही गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल वर्षा हो रही थी। बापू बरामदे में दो कंधों पर हाथ धरे टहल रहे थे। मैं उधर से गुज़रा तो उनकी नज़र पड़ी। देखा हाथ उठे हुए हैं, नमस्कार के लिए मेरा सिर झुक गया। पास आकर खड़ा ही हुआ था कि बापू बोले, "आप भी इस मंडली में आ सकते हैं, किन्तु चर्चा वही चलेगी जो चल रही है।"

उस समय भी किसी को कुछ बातें समझायी जा रही थीं। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। जगह कुछ गीली थी। बापू से न रहा गया। बोले, "जगह गीली है। मेरा डाक्टरी मत कहता है कि आप वहाँ न खड़े हों। इधर सूखे में आयें।"

अब बापू दो बार अपनी बात-चीत में विराम चिन्ह लगा चुके थे। मुझे लगा कि एक विराम चिन्ह मैं भी लगा दूँ तो शायद विशेष अनुपयुक्त न होगा; बोला, "बापू, मैं तो केवल एक मिनट में एक ही बात पूछने के लिए खड़ा हो गया था।"

"हाँ, वह तो मैं समझ ही गया था।"

"बापू, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका बम्बई जाने का दिन तो निश्चित है, लौटने का दिन भी निश्चित है क्या?"

"देखो, बम्बई में एक नारियल मिलता है, जिसमें पानी भी नहीं होता। यदि जिन्ना साहब ने मुझे वैसा नारियल ही दिया, तब तो मैं रविवार को ही लौट आऊँगा और यदि उसके साथ गुड़ भी दिया और यह भी कहा कि कल कुछ मसाला भी देंगे तो इस प्रकार जिन्ना साहब मुझे कुछ दिन ठहरा भी सकते हैं।"

मैं समझ गया बापू जी हर चीज़ के लिए तैयार हैं; बोला, "बापू! आपने मेरे सेवाग्राम छोड़ने पर जो प्रतिबन्ध लगाया है वह न रहे तो मैं सोचता हूँ, मैं भी इस बीच में बम्बई में अपना कुछ काम कर आऊँ।"

"हाँ, हाँ, मेरे साथ जाने में एक लाभ है। तीसरे दर्जे का टिकट रहने पर भी जगह अच्छी मिल जाती है।"

"मुझे इस लाभ का ध्यान नहीं था, अब आपने ज्ञान करा दिया तो अवश्य फ़ायदा उठाऊँगा।"

"अच्छी बात है।"

"तो बापू, मैं अपना टिकट लेकर स्टेशन पर उपस्थित रहूँगा।"

"हाँ, तो क्या मुझसे यह आशा रखते हो कि मैं टिकट भी ले दूँगा।"

मैं मुस्कराता हुआ विदा लेकर चला आया।

यह मानवता आख़िर है क्या चीज़? कहने-सुनने में तो उससे बढ़कर आसान दूसरी बात नहीं—'आदमी' को 'आदमी' समझना! क्या यह विशेष कठिन कार्य है? हाँ, कठिन। कठिन, बहुत कठिन!

ऐसा क्यों है? क्योंकि हम में से हर एक की आँख पर न जाने कितने भिन्न-भिन्न नम्बरों के चश्मे लगे हुए हैं—१. धनी-निर्धन का चश्मा २. ऊँची जात-नीची जात का चश्मा ३. छूत-अछूत का चश्मा ४. निरोग-रोगी का चश्मा ५. अपने स्वजातीय तथा विजातीय का चश्मा ६. स्वधर्मी तथा विधर्मी का चश्मा ७. अपनी पार्टी अथवा दल के भीतर का और उसके बाहर का

चश्मा—इनके अतिरिक्त और भी न जाने कितने चश्मे हैं। ये चश्मे हमें आदमी के साथ आदमी का-सा व्यवहार करने ही नहीं देते।

बापू ने अपनी साधना द्वारा इस प्रकार के सभी चश्मों को आँख से उतारने का सफल प्रयत्न किया था। अंधा संसार एक सही आँख वाले को सहन न कर सका। उसके पास हत्यारे की गोली थी, जो उसने इसी ३० जनवरी की संध्या को अपने माथे पर—अपने ही भाग्य पर दाग दी!

बापू दरिद्र नारायण के पुजारी थे, किन्तु उन्हें धनियों से भी घृणा न थी। वे धनी-निर्धन के पीछे छिपे हुए 'मानव' को देखते थे। बापू ऊँची जात और नीची जात, सछूत और अछूत के भ्रम से अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भिक युग में ही मुक्त हो गये थे। यदि उनके मन में पक्षपात भी था तो उसके लिए—जो जातिवाद के पलड़े में हलका पड़ता था। स्वर्गीय ठक्कर बापा ने लिखा है—

"साबरमती आश्रम में कई हरिजन कुटुम्ब रहते थे। उनमें से एक सज्जन बड़े हठी स्वभाव के थे और खादी के प्रमुख कार्यकर्ता भी। लक्ष्मीदास-भाई को वे बहुत कष्ट और त्रास देते थे। गांधी जी ने इस बारे में लक्ष्मी-दास भाई को बड़े कड़े शब्दों में कहा—'मेरी दृष्टि में वे पहले हैं और आप दूसरे नम्बर के हैं। आप उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करें, उनकी माँग अनुचित हो तो भी पूरी करने का प्रयत्न करें।"

मैं स्वयं प्रार्थनावादी नहीं हूँ, किन्तु प्रार्थना करने वाले की भी इज़्ज़त करता हूँ और बापू की प्रार्थना तो एक छोटी-मोटी धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक कान्फ्रेंस होती थी। उस प्रार्थना में .कुरान की आयतों के लिए भी जगह रहती थी! सन् '४७ में एक समय ऐसा आया जब दिल्ली के कुछ लोगों ने बापू की सभा में विघ्न डालना शुरू किया। उनका कहना था कि हम बापू को बाल्मीकि-मंदिर में .कुरान की आयतें नहीं पढ़ने देंगे। एक दिन, दो दिन, रोज-रोज आपत्ति होनी शुरू हुई। शनैः शनैः आपत्ति करनेवालों की संख्या कम भी होने लगी। बापू का कहना था कि जब तक एक भी आपत्ति करनेवाला रहेगा, मैं प्रार्थना न करूँगा। एक दिन जब ऐसा लगता था कि

अब कोई आपत्ति करनेवाला नहीं रहा, तब भी एक लड़का निकल आया। बापू बोले, "ठीक है, तब आज भी प्रार्थना नहीं होगी। एक आदमी भी जब तक या तो समझता नहीं है या अपने आप यहाँ से उठकर चला नहीं जाता है, तब तक मैं प्रार्थना नहीं करूँगा।"

अपने विरोधी के विरोध का इतना आदर! यही वह जादू था जिसने तीन दिनों में ही सारे विरोधियों के विरोध को शान्त कर दिया।

१ मई १९४७ के दिन बापू ने अपना परिचय स्वयं दिया था—

"मैं किसी भी पार्टी का नहीं हूँ। मैं सभी का हूँ। अगर बिहार के हिन्दू फिर पागल बनेंगे तो मैं फ़ाका करके मर जाऊँगा। उसी तरह अगर नोआखाली में मुसलमान दीवाने होंगे तो वहाँ भी मुझे मरना है। मैंने वह हक़ हासिल कर लिया है। मैं जितना हिन्दू का हूँ उससे कम मुसलमानों का नहीं हूँ। सिख, पारसी, ईसाई का भी मैं उतना ही हूँ। भले ही लोग मेरी न सुनें, पर जो मैं कहूँगा सब की ओर से कहूँगा।"

सचमुच बापू सब के थे। इसीलिए तो सब बापू के थे।

कल्पना कीजिए एक राजनीतिक नेता की, किसी सामान्य नेता की नहीं, सारे राष्ट्र के चतुर्मुखी नेता की और कल्पना कीजिए उसकी कुटी के बाहर पड़े हुए किसी रोगी स्वयं-सेवक की। बापू कदाचित् उसे अपनी आँख के सामने रखने के आग्रही थे। याद कीजिए श्री परचुरे शास्त्री सदृश किसी कोढ़ी की। बापू रोज रोज उन्हें देखने का ही नहीं, बीच-बीच में अपने हाथ से उनकी मालिश तक करने का समय निकाल लेते थे।

एक प्रसिद्ध नेता से मैं सुपरिचित हूँ। वे राजनीति में बापू के 'चेले' नहीं रहे। किन्तु उनकी भी चिकित्सा बापू के आदेशानुसार उनके सेवाग्राम में ही होती देखी गयी। एक दिन बापू के अतिथि रोगी की हालत एकाएक ख़राब हो गयी। बापू अपना मौनव्रत तोड़कर व्यग्रतापूर्वक उन्हें देखने पहुँचे!

यह थी बापू की 'मानवता', जो उनकी राजनीति से भी परे थी और उनके बनाये अपने नियमों से भी ऊपर!

रेखाएँ और चित्र

[पहला भाग]

रेखाएँ और चित्र—अश्क जी के निबन्धों, आलोचनाओं और संस्मरणों का नवीनतम और प्रथम संग्रह है। यह संग्रह अश्क-साहित्य में ही नहीं, हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

रेखाएँ और चित्र—में अश्क के समय-समय पर लिखे गये लगभग चालीस उत्तमोत्तम लेख संगृहीत हैं। अश्क जिन सामाजिक सत्यों को अपनी भावभूमि के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं—उसी भावभूमि और विचार धारा को इस संग्रह के लेखों में वाणी मिली है। ललित साहित्य में जो दृष्टिकोण छिपा-छिपा चलता है, वह इन लेखों में मुखर हो उठा है।

रेखाएँ और चित्र—की मनोरंजकता इसलिए भी बढ़ जाती है कि इसमें अश्क ने समसामयिक समस्याओं—जैसे प्रगतिशील आन्दोलन, कथा-साहित्य में गतिरोध, हिन्दी-उर्दू समस्या आदि पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। न केवल यह, वरन् स्केच और संस्मरणात्मक निबंध भी इसमें संकलित हैं, जिनका हास्य-व्यंग्य अनूठा है और जिन्हें पहली बार इस संग्रह में संकलित किया गया है।